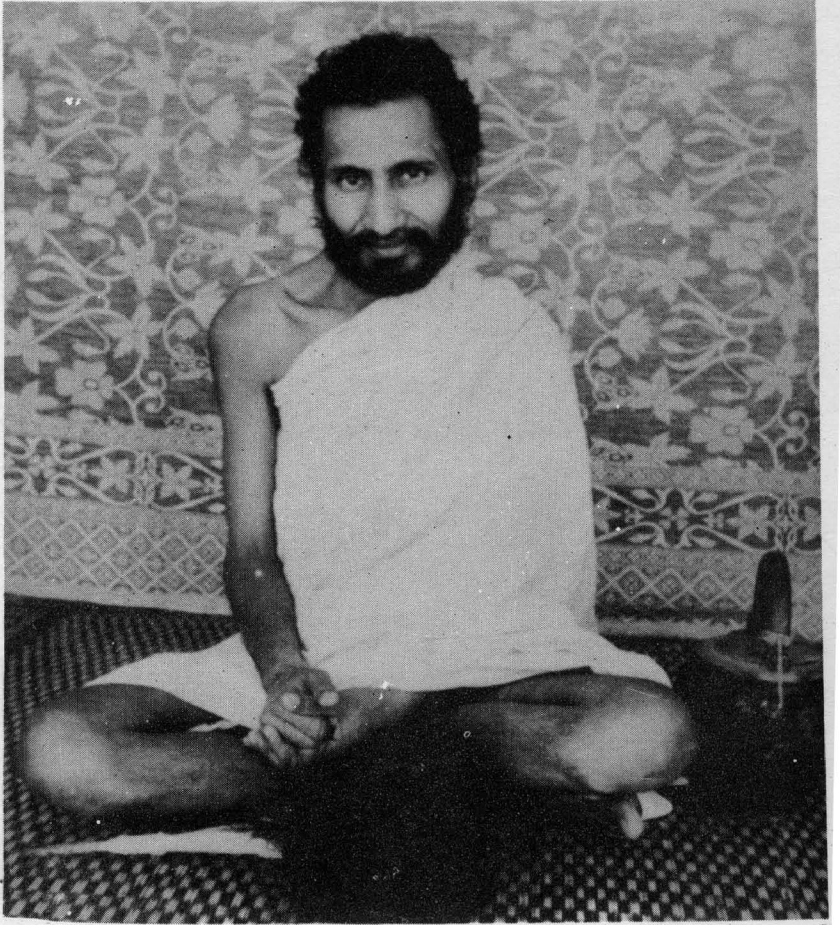




कार्म सहस्रम्

जिनेन्द्र वर्णी



महामनस्वी श्री जिनेन्द्र वर्णी जी

कर्म रहस्य

卐

जिनेन्द्र वर्णी

प्रकाशक :

जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला,

58/4, जैन स्ट्रीट

पानीपत - 132103 ॥ हरियाणा ॥

दूरभाष - 21655

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम आवृत्ति : 3000 सन् 1981

द्वितीय आवृत्ति : 2000 सन् 1993

मूल्य : 16 रूपये



मुद्रक:

पारस प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

बी०-४५, सेक्टर-८

नोएडा-२०१३०१

दूरभाष: ८९-५११५२

चित्र-परिचय

‘कर्म रहस्य’ नाम का यह ग्रन्थ हमारे जीवन के आभ्यन्तर विधान का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। इस में वर्तमान के जीवन का तात्त्विक दिग्दर्शन कराया गया है। उसी का पूरा चित्रण कवर पर अंकित किया गया है। इसमें यह भाव चित्रित किया गया है कि हमारा वर्तमान का जीवन चित्त के आधीन है। मन से, वचन से अथवा शरीर से जो कुछ भी हम विचारते, बोलते अथवा करते हैं। उस सबके संस्कार हमारी चित्त भूमि पर अंकित हो जाते हैं। हमारी सब क्रियायें इन संस्कारों की प्रेरणा से ही चालित हो रही हैं। ये संस्कार क्योंकि चित्र विचित्र हैं इसलिये हमारे जीवन की समस्त प्रवृत्तियाँ भी सम न होकर विषम हैं। विषमता के इस टेढ़े मार्ग पर स्थित होने के कारण हमारे भीतर तथा बाहर सर्वत्र अन्धकार है। जीवन के इस विधान को देखने तथा समझने में समर्थ तृतीय नेत्र अर्थात् तात्त्विक दृष्टि खुल जाने पर व्यक्ति के पग चित्र भूमिका उल्लंघन कर के तम से ज्योति की ओर, असत् से सत् की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर चल निकलते हैं। मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि आप सब को वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो।

जिनेन्द्र वर्णी

प्राक्कथन

आज के लोक में मनुष्य जितना उत्पीडित और उत्पीड़क है उतना शायद पहले नहीं रहा। मनुष्य के भीतर जब 'अहं' की सीमा लांघ जाती है तो वह उत्पीड़क बन जाता है और दूसरे मनुष्य उत्पीडित हो जाते हैं। आज की स्थिति ऐसी ही चल रही है। अभी तीन-चार दशक पूर्व महात्मा गांधी का उदय रहा, जिन्होंने विश्व को शान्ति और अहिंसा का सन्देश दिया। हम नहीं समझते कि उनके इस सन्देश का विश्व पर कितना प्रभाव पड़ा किन्तु विश्व के बुद्धिजीवियों पर उसका अवश्य प्रभाव पड़ा है, जिन्होंने शान्ति व अहिंसा की स्थापना में योगदान दिया है और उसका फल यह हुआ कि विश्व के समस्त राष्ट्रों का संगठन बना, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम से जाना जाता है। कम-से-कम वे एक मंच पर तो आ गये।

आज सर्वत्र हिंसा का ताण्डव नृत्य चल रहा है। मनुष्य मनुष्यता की सभी सीमायें लांघकर पशु से भी निकृष्ट आचरण की ओर निरन्तर अग्रसर है। महान संतों की पावन भूमि पर शान्ति प्रिय आचरण के लिए विश्वविख्यात भारत का जन मानस ही कुण्ठित होकर जब विद्रोही हो गया है, तब अन्य देशों की स्थिति कितनी भयावह होगी, यह आप स्वयं विचार कर सकते हैं। प्रबुद्ध वर्ग को विश्व की जनता को हिंसा से विरत रखने के लिए सचेष्ट होना आवश्यक है। मानवता की रक्षा हर प्रयत्न से हानी चाहिए।

भारतीय ऋषि-महर्षियों ने हमेशा आध्यात्मिक दिशा प्रदान की है और अपने सन्देशों में उन्होंने अहिंसा के प्रचार और प्रसार पर अधिक बल दिया है। आचार्य समन्तभद्र ने तो 'अहिंसा' को जगत्-विदित 'परम ब्रह्म' कह कर उसके आचरण पर बहुत बड़ा बल दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि अपने में अन्योक्ति प्रति राग-द्वेष जैसे क्षुद्र विकारों को उत्पन्न न होने देना वस्तुतः

अहिंसा है। इसका आचरण होने पर सर्वत्र शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी एक आध्यात्मिक महापुरुष हैं। उन्होंने प्रस्तुत कृति में सरल और सुगम भाषा में अहिंसा के ही तत्त्वों को उजागर किया है। आज के युग में मानवता के उद्धार और उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं, शिक्षित युवकों के लिए एक दिशा इससे मिलेगी और वे युग की बुराइयों से बचकर सही मार्ग पर आवेंगे।

वर्णी जी आध्यात्मिक पुरुष ही नहीं हैं, अच्छे लेखक, ग्रन्थकार, प्रवचनकार और विद्वान् भी हैं। उन्होंने अब तक एक दर्जन के लगभग महत्त्वपूर्ण कृतियों का सृजन कर उनके द्वारा मानव की सुप्त चेतना को जागृत किया है।

उल्लेखनीय है कि यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक श्री वर्णी जी के उन २०, २५ प्रवचनों का संग्रह है, जो उन्होंने अप्रैल १९८१ में भोपाल (म० प्र०) में दिये थे और जिन्हें सभी ने पसन्द किये थे।

प्रथम संस्करण भोपाल के ही स्वाध्याय प्रेमियों की प्रेरणा से प्रकाशित किया गया था जो अब समाप्त हो गया है अतः पाठकों की निरन्तर मांग के कारण इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया है। उनकी यह रचना भी पूर्व प्रकाशित सभी रचनाओं की भाँति ही पूर्णतया आदृत एवं उपादेय रही।

—(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
पूर्व रीडर, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय,
एवं उपाध्यक्ष, जैन समाज काशी, वाराणसी।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की रचना

एक चमत्कार

‘जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश’ के रचयिता तथा सम्पादक श्री जिनेन्द्र वर्णीका जन्म १४ मई १९२२ को पानीपतके सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० श्री जयभवान् जी जैन एडवोकेटके घर हुआ। केवल १८ वर्षकी आयुमें क्षय रोगसे ग्रस्त हो जानेके कारण आपका एक फेफड़ा निकाल दिया गया जिसके कारण आपका शरीर सदाके लिए क्षीण तथा रुग्ण हो गया। सन् १९४९ तक आपको धर्मके प्रति कोई विशेष रूचि नहीं थी। अगस्त १९४९ के पर्यूषण पर्वमें अपने पिताश्री का प्रवचन सुननेसे आपका हृदय अकस्मात् धर्मकी ओर मुड़ गया। पानीपतके सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा शान्त-परिणामी स्व० पं० रूपचन्द जी गार्गीयकी प्रेरणासे आपने शास्त्र-स्वाध्याय प्रारम्भ की और सन् १९५८ तक सकल जैन-वाङ्मय पढ डाला। जो कुछ पढ़ते थे उसके सकल आवश्यक सन्दर्भ रजिस्ट्रोंमें लिखते जाते थे।

‘जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश’ के नामसे प्रकाशित जो अत्यन्त परिष्कृत कृति आज हमारे हाथमें विद्यमान है, वह इसका प्रथम रूप नहीं है। इससे पहले भी यह किसी न किसी रूपमें पाँच बार लिखी जा चुकी है। इसका यह अन्तिम रूप छठी बार लिखा गया है। इसका प्रथम रूप ४-५ रजिस्ट्रों में जो सन्दर्भ संग्रह किया गया था, वह था। द्वितीय रूप संदर्भ संग्रहके खुले परचोंका विशाल ढेर था। तृतीय रूप ‘जैनेन्द्र प्रमाण कोश’ नाम वाले वे आठ मोटे-मोटे खण्ड थे जो कि इन परचोंको व्यवस्थित करनेके लिए लिखे गये थे। इसका चौथा रूप वह रूपान्तरण था जिसका काम बीचमें ही स्थगित कर दिया गया था। इसका

पाँचवाँ रूप वे कई हजार स्लिपें थी जो कि जैनेन्द्र प्रमाण कोश तथा इस रूपान्तरणके आधारपर वर्णी जी ने ६-७ महीने लगाकर तैयार की थी तथा जिनके आधारपर अन्तिम रूपान्तरण की लिपि तैयार करनी इष्ट थी। इसका छठा रूप यह है जो कि 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के नामसे आज हमारे सामने है।

यह एक आश्चर्य है कि इतनी रुग्ण कायाको लेकर भी वर्णी जो ने कोष के संकलन, सम्पादन तथा लेखनका यह सारा कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। सन् १९६४ में अन्तिम लिपि लिखते समय अवश्य आपको अपनी शिष्या ब्र० कुमारी कौशल का कुछ सहयोग प्राप्त हुआ था, अन्यथा सन् १९४९ से सन् १९६५ तक १७ वर्षके लम्बे कालमें आपको तृण मात्र भी सहायता इस सन्दर्भ में कहीं से प्राप्त नहीं हुई। यहाँ तक कि कागज़ जुटाना, उसे काटना तथा जिल्द बनाना आदि का काम भी आपने अपने हाथ से ही किया।

यह केवल उनके हृदयमें स्थित सरस्वती माता की भक्तिका प्रताप है कि एक असंभव कार्य भी सहज संभव हो गया और एक ऐसे व्यक्तिके हाथसे संभव हो गया जिसकी क्षीण कायाको देखकर कोई यह विश्वास नहीं कर सकता कि इसके द्वारा कभी ऐसा अनहोना कार्य सम्पन्न हुआ होगा। भक्ति में महान् शक्ति है, यही कारण है कि वर्णीजी अपने इतने महान् कार्यका कर्तृत्व सदा माता सरस्वतीके चरणोंमें समर्पित करते आये हैं और कोश को सदा उसी की कृति कहते आये हैं। यह है भक्ति तथा कृतज्ञताका आदर्श

यह कोश साधारण शब्द-कोश जैसा कुछ न होकर अपनी जाति का स्वयं एक ही कोश है। शब्दार्थ के अतिरिक्त

शीर्षकों, उपशीर्षकों तथा अबान्तर शीर्षकों में विभक्त वे समस्त सूचनायें इसमें निबद्ध हैं जिनकी कि किसी भी प्रवक्ता, लेखक अथवा संधाता को आवश्यकता पड़ती है। शब्द का अर्थ, उसके भेद-प्रभेद, कार्य-कारणभाव, हेयोपादेयता, निश्चय-व्यवहार तथा उसकी मुख्यता गौणता, शंका समाधान, समन्वय आदि कोई ऐसा विकल्प नहीं जो कि इसमें सहज उपलब्ध न हो सके। विशेषता यह है कि इसमें रचयिताने अपनी ओर से एक शब्द भी न लिखकर प्रत्येक विकल्पके अन्तर्गत अनेक शास्त्रोंसे संकलित आचार्योंके मूल वाक्य ही निबद्ध किए हैं। इसलिए यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जिसके हाथ में यह महान् कृति है उसके हाथमें सकल जैन-वाङ्मय है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशका अब तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसे भोपालकी जैन समाज ने देश-विदेशके विभिन्न विश्वविद्यालयों को अपनी धनराशि से उपलब्ध कराने का प्रबन्ध किया है। इसका पंचम इण्डैक्स खण्ड, भारतीय ज्ञानपीठ से शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। जैन दर्शनके अध्येताओं के लिये श्रद्धेय वर्णी जी की यह अभूतपूर्व देन है।

सुरेश कुमार जैन
पानीपत

विषय सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
	१. अग्रध्यात्म खंड	
१.	अन्तर्दृष्टि—	३
२.	आभ्यन्तर जगत	८
	१. आभ्यन्तर विस्तार, २. त्रिलोक, ३. महाठग, ४. वीचिमाला, ५. मध्यलोक ।	
३.	चित्त दर्शन	१५
	१. शब्द नहीं भाव, २. चित्तका वाच्यार्थ, ३. अक्षय कोष ।	
४.	महामाया	२०
	१. ज्ञानका विभक्तिकरण, २. अहम् इदं, ३. माया ।	
५.	समग्र दर्शन	२४
	१. पूर्णतामें अपूर्णता, २. पूर्णता, ३. पूर्ण इदंता महासत्ता, ४. सागरमें बिन्दु, ५. महासत् ।	
६.	अहंकार दर्शन	३२
	१. पूर्णाहंता, २. संकीर्णता, ३. अतृप्त कामना, ४. बिन्दुमें सागर ।	
७.	भ्रान्ति दर्शन	३९
	१. समवशरण, २. आठ भूमियें, ३. भ्रान्ति ।	
८.	हृदय	४७
	१. महातत्त्व, २. प्रेम, ३. आत्मसात् तन्मयता, ४. तत्त्वोन्मुखता ।	

९. भावना	५२
१. प्रधानता, २. अनुप्रेक्षा और भावना में अन्तर, ३. भावनाका स्वरूप ।		
१०. विनय	५६
१. सम्यक्त्वके अंग, २. सर्वानुगति, ३. गुरु-विनय, ४. गुरु-महिमा ।		
११. धर्म	६२
१. चारित्तं खलु धम्मो, २. समता शमता ३. परमार्थ, ४. दश धर्म ।		
१२. आगे बढ़ो	६७
१. अटको नहीं चलो, २. परस्परपग्रहो जीवानाम् ।		
१३. सत्पुरुषार्थ	७१
१. हृदय परिवर्तन, २. त्यागका त्याग, ३. समन्वय ।		
१४. विकास	७५
१. रूपान्तरण, २. बुरा भी अच्छा, ३. व्यवहार ही निश्चय, ४. व्यवहारका वमन ।		
२. कर्म खण्ड		
१५. कल्याणकी ओर	८३
१. अन्तर्मुख लोभ, २. जैन दर्शनका श्रेय, ३. स्वतन्त्र भाषा, ४. अध्यात्म तथा कर्मशास्त्रका समन्वय ।		
१६. करणानुयोग	८७
१. अन्य अनुयोग, २. प्रस्तुत ग्रन्थ ।		
१७. कर्म	९०
१. कर्म सामान्य, २. त्रिविध कृतक कर्म ।		

१८. कर्म-करण	९४
१. त्रिविध करण, २. ज्ञानकरण तथा कर्म करण, ३. भोगकरण, ४. अन्तःकरण, ५. आभ्यन्तर शासन ।		
१९. योग-उपयोग	१०१
१. चेतना शक्तिका उपयुक्तिकरण, २. चेतनाका एकत्व, ३. उपयोग. ४. योग ।		
२०. योग विधान	१०८
१. त्रिकरण, २. मन, ३. वचन, ४. काय ।		
२१. शरीर	११४
१. त्रिविध शरीर, २. परमाणु, ३ वर्गणा, ४. तैजस शरीर, ५. कार्मण-शरीर ।		
२२. कर्म-विधान	१२२
१. पुनरावृत्ति, २. त्रिविध कर्म, ३. द्रव्य-कर्म, नोकर्म ।		
२३. भाव कर्म	१२८
१. अकषाय, २. रागद्वेष, ३. बन्धके हेतु, ४. फलाकांक्षा, ५. स्वार्थ ।		
२४. कामना	१३४
१. कामनाकी विशेषतायें, २. कर्मफल, ३. कामना- त्याग ही कर्म-त्याग ।		
२५. सकाम निष्काम कर्म	१३९
१. चित्त-बन्धन, २. स्वार्थ, ३. कर्म भी अकर्म, ४. समन्वय ।		

२६. बन्धन १४४
 १. स्वामित्व बुद्धि, २. चित्त-बन्धन, ३. स्वार्थ तथा परमार्थ ।
२७. जीवन्मुक्ति १४९
 १. द्वन्द्व, २. द्वन्द्व-मुक्ति, ३. समन्वय, ४. जीवन्मुक्ति ।
२८. संस्कार १५७
 १. द्रव्यकर्म तथा भावकर्मका समन्वय, २. संस्कार परिचय, ३. संस्कार-निर्माण क्रम, ४. संस्कार-विच्छेद क्रम, ५. संस्कार-बन्धन ।
२९. दश करण १६६
 १. कर्म सिद्धान्त, २. बन्ध उदय सत्त्व, ३. अपकर्षण उत्कर्षण संक्रमण, ४. उपशम क्षय क्षयोपशम, ५. निधत्त निःकाचित, ६. दश करणोंका एकत्व ।
३०. स्वातन्त्र्य १८२
 १. परतन्त्र भी स्वतन्त्र, २. दिशाफेर, ३. पुण्यका सार्थक्य ।
३१. पंच लब्धि १९०
 १. विशिष्ट पुण्य, २. क्षयोपशम लब्धि, ३. विशुद्धि लब्धि, ४. देशना लब्धि, ५. प्रायोग्य लब्धि, ६. करण लब्धि ।
३२. सहज अवस्था २०२
 १. अतृप्त कामना, २. विफल कर्तृत्व, ३. तात्त्विक कर्म व्यवस्था ।

१

•

अध्यात्म खण्ड

•

मन बुद्धि तथा हृदय का विकास
अध्यात्मका सार है

- ★ हे अज्ञान से ग्रस्त जीवों उठो । जागो और श्रेष्ठजनों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो ।
- ★ आत्मज्ञान का मार्ग तलवार की तीक्ष्णधार के समान दुर्गम होता है ।
- ★ जो विवेकशील प्राणी बुद्धि सारथि से युक्त और मन को संयत रखने वाला होता है वह जीवन की यात्रा को समाप्त कर व्यापक परमात्म पथ को प्राप्त कर लेता है ।

- ★ जो कर्म और ज्ञान को एक साथ जानता है, दोनों मार्गों के सामंजस्य को समझता है वही कर्म द्वारा अपनी आत्मा को नीचे गिराने वाले तत्वों पर विजय पाकर अपने शाश्वत अमृत स्वरूप का अनुभव करता है ।

१-अन्तर्दृष्टि

“आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिव माहि न तार्ते, शिवमग लागो चहिये ॥”

बस यहाँ होता है दर्शनशास्त्रका प्रवेश, अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न ऋषियोंकी शरण । अन्तर्दृष्टि खुले बिना इस कारिकाका क्या मूल्य ? कौन सुनता है इस व्यर्थ के प्रलापको ? कविजनोंकी कल्पना है । आकाश-पुष्पकी प्राप्ति सम्भवतः हो जाय, परन्तु इस कल्पनाको साकार हुआ न तो आजतक किसीने देखा है और न कभी देखनेकी आशा ही की जा सकती है । और यदि कदाचित् दूर भविष्यमें किसी एक विरले व्यक्तिको काकतालीय न्यायसे उसकी प्राप्ति सम्भव हो भी जाय तो वर्तमानको छोड़कर भावीकी आशा कौन करेगा ?

“आतमको हित है सुख, सो सुख विषय-भोगमें लहिये ।
विषयभोग धन बिन नहिं तार्ते, धन ही धन उपजइये ॥”

इस कारिकाके प्रत्यक्ष अर्थको छोड़कर उपर्युक्त कारिकाके काल्पनिक अर्थको हस्तगत करनेका प्रयास जलगत चन्द्रबिम्बको हस्तगत करनेके प्रयाससे अधिक और क्या है ?

ये कुछ तर्क हैं उनके, जिनको अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है । इन्हें हम सर्वथा मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐन्द्रिय जगतमें इससे ऊपर और है ही क्या ? किसी अन्यसे सुनकर या पढ़कर उक्त कारिकाका पाठ करने वालोंको वह दृष्टि प्राप्त हो गयी हो, ऐसा भी नहीं है । जहाँ उस कारिकाका वाच्य अर्थ स्थित है वहाँ प्रवेश किये बिना, केवल कारिकाका पाठ कर देने मात्रसे अपनेको अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न समझ लेना अपनी आँखमें स्वयं धूल झाँकना है । शब्द भी उसी प्रकार ऐन्द्रिय-जगतका पदार्थ है जिस प्रकार कि विषय-भोग तथा धन । शब्दका भी भोग होता है और सम्भवतः विषय-भोगसे अधिक । विषय-भोगकी परिधि केवल एक व्यक्ति तक सीमित है जबकि शब्द-भोगकी परिधि हजारों तथा लाखों व्यक्तियोंके भोगको अपने भीतर समेट लेती है । विषय-भोगसे धनका लोभ उत्पन्न होता है और शब्द-भोगसे प्रशंसा सुननेका लोभ । दोनोंमें कोई अन्तर नहीं । केवल वस्त्र बदल लेनेसे व्यक्ति नहीं बदलता । लोभ नये वेशमें रंग-मंचपर आया है, यह बात अन्तर्दृष्टि वाला ही जान सकता है । वह जानता है इसलिये बचता है, जो नहीं जानता वह बचता भी नहीं । धन तथा तज्जनित भोग जिस प्रकार व्यक्तिके साथ न जाकर यहीं रह जाता है, उसी प्रकार शब्द तथा तज्जनित प्रशंसा भी व्यक्तिके साथ न जाकर यहीं रह जाती है ।

हे भव्य ! हे मुमुक्षु ! समस्त बाह्य प्रपंचोंसे हटकर स्वयं अपने भीतर देख, वहाँ जहाँ कि उक्त कारिकाका अखण्ड-पाठ नित्य चल रहा है और चलता रहेगा, उस समयतक जबतक कि उसका अर्थ हस्तगत नहीं हो जाता । हे महापुण्डरीक ! अपनी महत्ता को देख, क्षुद्र मत बन । क्या दासत्व तुझे अच्छा लगता है ? यदि नहीं तो स्वतन्त्रताके लिये प्रयास क्यों नहीं करता ? ओह ! समझा, तुझे अपने दासत्वकी प्रतीति ही कब है ? होती तो एक ही झटकेमें सब

बन्धन तोड़ डालता, सब बेडियें चकनाचूर कर डालता। परन्तु अन्तर्दृष्टिके बिना इस बन्धनकी भी प्रतीति कैसे हो ? बाहरमें तो तू स्वतन्त्र है ही, व्यक्तिकी अपेक्षा भी और राष्ट्रकी अपेक्षा भी; जो चाहे करे, जो चाहे छोड़े, जो चाहे भोगे।

भूलता है प्रभो ! भुलता है, आ गुरुओंकी शरणमें और तब ही पता चलेगा तुझे कि तू स्वतन्त्र है या परतन्त्र। विज्ञानने इतनी उन्नति की, पृथ्वी पर स्वर्ग उतारा, परन्तु क्या वह भी स्वतन्त्र है ? यदि है तो इतना आतंक क्यों, इतनी आशंका क्यों ? देख तत्तिक भीतर चलकर देख, सभी परिस्थितियों से बँधे हैं, व्यक्ति हो या समाज, देश हो या राष्ट्र, ज्ञान हो या विज्ञान, जो कुछ भी करता है सब परिस्थितिबश। परिस्थिति बाध्य न करे तो कौन इतना संघर्ष करे। सर्वत्र संघर्ष मचा है भीतर भी और बाहर भी, व्यक्तिमें भी, समाजमें भी, राष्ट्रमें भी और सकल विश्वमें भी। यह 'सब कुछ क्यों ? बस एक उत्तर है, 'परिस्थितिबश'। न चाहते हुए भी परिस्थितिबश करना पड़ता है, इससे बड़ी दासता और क्या है ?

परन्तु यह 'परिस्थिति' क्या वस्तु है और कहाँ बैठी है, क्या इसका भी विचार किया है कभी ? ऐन्द्रिय-जगतमें विचरण करने वालेके लिये यह सम्भव ही कब है ? उसमें परिस्थितिकी प्रतीति होती है, परन्तु 'परिस्थिति क्या वस्तु है' इस विचारके लिए वहाँ अवकाश नहीं। तब उसकी खोजकी तो बात ही क्या। परिस्थितियोंमें रहते हुए भी परिस्थितिको न देखना, इससे बड़ा अन्धपना क्या ? आ गुरुदेवकी शरणमें। वह ज्ञानाञ्जन के द्वारा तेरा तृतीय नेत्र खोल देंगे, और तभी सम्भव हो सकेगा तेरे लिये उसे देखना, उसे जानना। तब ऋषि बन जायेगा तू, द्रष्टा बन जायेगा तू, ज्ञाता बन जायेगा तू। तब तू देखेगा कि इस ऐन्द्रिय-जगतकी अपेक्षा अनन्त गुणा जगत तेरे भीतर बसा हुआ है। चित्तगत इस छोटेसे

मंचपर इतना विशाल जगत नृत्य कर रहा है कि उसका ओर छोर पाना कठिन है। इन्द्रिय-पथमें आने वाला यह सकल बाह्य-जगत एक रेणुकी भाँति उसके एक कोनेमें पड़ा दिखाई भी नहीं देता है।

चिर-परिचित इन्द्रियके राज्यको छोड़कर एक बार केवल एक बार, इसमें प्रवेश कर। तू चकित रह जायेगा, सारा रहस्य समझ जायेगा। इसे न जाननेके कारण ही तू परिस्थितियोंका दास बना हुआ है, और दास होकर भी अपनेको स्वतन्त्र समझ रहा है। मत घबरा यह तेरा अपना जीवन है। जिस जीवनमें तू रह रहा है वह तेरा बाह्य जीवन है और चित्तके नामसे जिसका उल्लेख मैं कर रहा हूँ वह तेरा आभ्यन्तर जीवन है। इन्द्रिय-पथमें आनेके कारण बाह्य-जीवन ही आजतक तेरे परिचयमें आया है। इन्द्रियों से अतीत होने के कारण यह आभ्यन्तर जीवन न तो आजतक तेरे परिचय में आया है, और न तूने इसे जाननेका प्रयत्न ही किया है। प्रयत्न करता भी कैसे, परिस्थितियाँ तुझे अपनी उदर-पूर्तिके अतिरिक्त अन्य प्रयत्न करनेके लिए अवकाश ही कब देती हैं? इसीलिए तो तुझे दास, लाचार, दीन तथा हीन कह रहा हूँ।

एक बार केवल एक बार अपने इस आभ्यन्तर-जीवनमें प्रवेश कर। तब इस बाह्य-जीवनका तेरे लिये कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। कांचके टुकड़ोंमें से किसी एक चमकदार कांच खण्डको हाथमें लेकर ही तू सन्तुष्ट बना हुआ है। रत्नके हस्तगत हो जाने-पर तू अन्य धुँधले कांच खण्डोंकी भाँति इसे भी छोड़ देगा। वह इसकी अपेक्षा अधिक सत्य है। उसके समक्ष यह बाह्य-जीवन जिसे तू सत्य समझ रहा है, वास्तवमें असत्य है, भ्रान्त है। इसकी सत्यता केवल इसलिये भास रही है कि इन्द्रियोंमें इसके अतिरिक्त अन्य कुछ देखनेकी शक्ति नहीं है। सागरको रत्नाकर कहा गया है, परन्तु उसका वह रत्नाकरत्व उसमें कहाँ स्थित है? इन्द्रियोंके द्वारा तो केवल उसका 'उदधि' वाला रूप ही सत्य है, रत्नाकर वाला रूप

नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियोंके राज्यमें केवल यह बाह्य जीवन ही सत्य है, आभ्यन्तर जीवन नहीं। परन्तु जिस प्रकार उदधिके भीतर उसके तल भागमें जानेपर रत्नाकर सत्य है, उसी प्रकार इस बाह्य-जीवनके भीतर इसके तल-भागमें जानेपर आभ्यन्तर जीवन सत्य है। जिस प्रकार रत्नाकरके हस्तगत हो जानेपर उदधि निर्मूल तथा निःसार हो जाता है, उसी प्रकार आभ्यन्तर-जीवनके हस्तगत हो जानेपर बाह्य-जीवन निर्मूल्य तथा निःसार हो जाता है। हे प्रभो ! तू एकबार इसमें डुबकी लगा, मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि वह इसकी अपेक्षा अधिक सत्य है, इसकी अपेक्षा अधिक स्थायी है, इसकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान है।

वही वास्तवमें तेरे बाह्य-जीवनका प्राण है, उसके अभावमें यह निष्प्राण है। मृत्युके समय इन्द्रियगम्य यह बाह्य-शरीर तो रहता है परन्तु उससे अतीत आभ्यन्तर-जीवन चला जाता है, जिसे जगतके लोग समझ नहीं पाते और व्यक्तिको मृत मानकर रोने लगते हैं। वास्तवमें व्यक्ति नहीं मरा है, शरीर मरा है। मृत्यु केवल निष्प्राण होनेका नाम है। 'चित्त' के नामसे कहा गया तेरा आभ्यन्तर-जीवन ही वास्तवमें इसका प्राण है। व्यक्तिका व्यक्तित्व उसीमें निहित है, शरीरमें नहीं। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि शरीरके सुन्दर-असुन्दर होनेसे व्यक्तिका व्यक्तित्व सुन्दर-असुन्दर नहीं होता, चित्तके सुन्दर-असुन्दर होनेसे ही वह सुन्दर-असुन्दर होता है। इसलिए चित्त ही अधिक सत्य है, शरीर नहीं। तेरी सकल परिस्थितियाँ भी वास्तवमें वहाँ ही निवास करती हैं, शरीर में अथवा इसके साधनभूत इस बाह्य-जगतमें नहीं। पुत्र मित्र कलत्रादिमें, घरमें, समाजमें अथवा राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्रमें उनका प्रतिभास होता है, परन्तु वह प्रतिभास भ्रान्त है। इस रहस्यको भी तू उसी समय समझ सकेगा जबकि चित्त नामसे कथित इस आभ्यन्तर लोकमें तू प्रवेश करेगा और उसके प्रत्येक प्रान्तमें जा जाकर तू उसका अवलोकन करेगा।

●

१. आभ्यन्तर विस्तार

आ मेरे साथ आ, मैं तुझे तेरे इस आभ्यन्तर लोककी सैर कराऊँ। ले मेरी अँगुली पकड़, अन्यथा भटक जायेगा। यह एक भूलभुलैया है, जिसमें न जाने कितने प्रान्त हैं। प्रत्येक प्रान्तमें अनेकों नगर हैं और प्रत्येक नगरके अनेकों द्वार हैं। नगरके भीतर जानेपर इतनी गलियें हैं कि उनकी गणना करना सम्भव नहीं। एक गलीमें घुस जानेपर एकसे दूसरी और दूसरीसे तीसरी गलीमें जाता हुआ व्यक्ति कहांसे कहां पहुँच जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता। इसलिये सावधान रहकर चलना है। किस दिशाके द्वारसे प्रवेश करके किस गलीके मार्गसे तू किस दिशामें चल रहा है और यह गली कहां जाकर समाप्त हो जायेगी यह सब ध्यानमें रखकर चलना है। देख देख यह चौराहा आ गया। ऐसे ऐसे न जाने कितने चौराहे तुझे पार करने पड़ेंगे। प्रायः सभी यहाँ आकर मार्ग भूल जाते हैं, इसलिये मेरी अँगुली मत छोड़ दीजियो नहीं तो इससे बाहर निकलना तेरे लिये सम्भव न हो सकेगा।

देख देख सँभल, यह दूसरा द्वार आ गया। इसपर नियुक्त किए गए इस प्रहरीको देख। सभी द्वारोंपर इसी प्रकार प्रहरी नियुक्त

किए गए हैं। एकसे एक चतुर हैं, सदा शिकारकी ताकमें रहते हैं, कोई दिखाई दिया नहीं कि इनकी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई नहीं। देख, बड़ा मीठा बोलते हैं ये। इनकी बातों में नहीं आना है अन्यथा तुझे बताये देता हूँ कि ये बड़े चतुर ठग हैं, मीठा बोलकर ठगते हैं। बड़े-बड़े प्रलोभन दिखाते हैं—कभी धनका, कभी कीर्तिका, कभी स्वर्गका, कभी विद्वत्ताका, कभी पादपूजाका, यहाँतक कि कभी-कभी भगवद्दर्शनका भी। परन्तु प्रवेश करनेसे पहले ही इस बातको समझ ले कि यह सब इस भूलभुलैयाके विभिन्न चतुष्पथ हैं जहाँ आकर प्रायः सब भटक जाते हैं, अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं, लक्ष्यकी भ्रान्तिसे अलक्ष्यकी ओर चल निकलते हैं। सर धुनते हैं उस समय जबकि भव-वनके भयंकर जन्तुओंके बीच घिर जाते हैं।

२. त्रिलोक

देख अपने इस पुरुषाकार शरीरके भीतर पुरुषाकार आभ्यन्तर लोकको जिसमें तीनों लोक स्थित हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। नाभिके नीचे अधोलोक, उससे ऊपर ऊर्ध्वलोक और इसी नाभि-देशमें मध्यलोक। अधोलोक तथा ऊर्ध्वलोकको छोड़कर पहले इस मध्यलोकमें प्रवेश कर। इसकी रचना बड़ी जटिल है। यह चक्रव्यूह है जिसमें घुसकर व्यक्ति अपने प्राण गँवा देता है परन्तु बाहर निकल नहीं सकता। एकके पश्चात् एक असंख्यों द्वीप हैं। आगे आगे वाला द्वीप अपनेसे पहलेवाले द्वीपको परिवेष्टित किए हुए स्थित है। दुर्गको परिवेष्टित करने वाली खाईको भाँति प्रत्येक द्वीप अपने-अपने सागरसे परिवेष्टित हुआ सुरक्षित है। शत्रु इसका उल्लंघन नहीं कर सकते। यदि कदाचित् कोई कर भो जाये तो द्वीपके द्वारपर ही रोक दिये जाते हैं। बड़ी विशाल सेना लेकर भी कोई चारों दिशाओंमें स्थित इन द्वारोंको जोत नहीं सकता, इसीसे ये विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित कहलाते हैं।

यह सब तो इसका मात्र शास्त्रगत रूप है। आ मैं तुझे इसका आध्यात्मिक रूप दर्शाता हूँ जिसका तू नित्य प्रत्यक्ष कर रहा है, परन्तु 'यह क्या है' यह बात तू जान नहीं पाता। मैं पहले बता आया हूँ कि चित्तगत इस छोटेसे मंचपर विशाल जगत नृत्य कर रहा है। आ इसका रहस्य समझाता हूँ। 'चित्त' यह शब्द तेरे लिए कुछ नया नहीं है। दिन रात जिह्वापर आनेवाला यह साधारण शब्द है, जिसका वाच्यार्थ आ-बाल-गोपाल प्रसिद्ध है।

दो अक्षरोंसे व्युत्पन्न इस छोटेसे शब्दकी भाँति यद्यपि शरीरके भीतर यह अणुसे भी अधिक सूक्ष्म है, तदपि इसपर तथा इसमें इतना विशाल जगत बसा हुआ है कि उसका ओर-छोर पाना कठिन है। निरन्तर चिन्तवन करते रहना इसका स्वरूप है।

३. महा ठग

उठते-बैठते, सोते-जागते, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो इसका वेग कभी शान्त नहीं होता। सर्वत्र सर्वदा दौड़ते रहना इसका स्वभाव है। एक क्षणके लिए भी शान्त होना इसने सीखा नहीं। एक क्षणमें तीन लोकको माप लेनेमें समर्थ इस वामनराजकी थाहको कौन पा सकता है। प्रति क्षण यह अपने भीतर कितने जगत बसाता है और बसा-बसाकर ऊर्णनाभिकी भाँति स्वयं निगल जाता है, यह कौन जानता है। यह सबको देखता है, परन्तु (कुछ एक तत्त्वद्रष्टाओंके अतिरिक्त) इसे कोई नहीं देखता। भीतर बैठा यह प्रतिक्षण नाटक रचता रहता है। हम उस नाटकको देखते हैं, परन्तु नाटक रचने वाले को नहीं। सबके समक्ष सर्वदा विद्यमान रहते हुए भी सबकी दृष्टिसे ओझल बने रहना इसकी चतुर कला है, इसकी माया विद्या है। यह सबको धोखा देता है, असत्यको सत्य और सत्यको असत्य बताता है, परन्तु इसको कोई भी धोखा नहीं दे सकता। धन्य हैं वे जिन्होंने इसको

धोखा दिया। वही हैं मेरे गुरुदेव जिनकी शरणसे इसे देखने तथा समझने वाली अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है।

४. वीचि-माला

चित्तके स्वरूप तथा कार्य-विधिका थोड़ासा दिग्दर्शन कराता हूँ। जिस प्रकार किसी शान्त सरोवरमें कंकड़ फेंकनेसे उसमें वर्तुलाकार वीचिमाला उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार किसी भी विषयके प्राप्त होनेपर चित्तमें वर्तुलाकार विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार सरोवरगत वीचिमाला की अनेकों वीचियों मध्यलोकवर्ती असंख्यात द्वीप-समुद्रोंकी भाँति एक दूसरेको परिवेष्टित करती हुई विस्तारको प्राप्त होती चली जाती है, उसी प्रकार चित्तगत उक्त विकल्प-मालाके अनेकों विकल्प एक दूसरेकी परिक्रमा करते हुए विस्तारको प्राप्त होते जाते हैं। उनका विस्तार उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण होता चला जाता है। जिस प्रकार सरोवरगत वीचियोंका केन्द्र-बिन्दु वह स्थल होता है जहाँ कि वह कंकड़ उसमें गिरायी गयी थी, उसी प्रकार चित्तगत सकल विकल्प उस संकल्प-बिन्दुकी परिक्रमा करते होते हैं जोकि विषयको प्राप्त करनेके अनन्तर क्षण में वहाँ जागृत होता है। इस विषयको थोड़ा और स्पष्ट करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि आप अपने कमरेमें शान्त बैठे हैं। इतनेमें किसी भिक्षार्थीने आकर आपका द्वार खटखटाया। आपने उठकर चार आने उसे दे दिये। भिखारी चला गया, परन्तु आपके चित्तमें वह अब भी बैठा है। 'इन लोगोंका सुधार होना आवश्यक है।' इत्यादि अनेकों विकल्प एकके बाद एक उत्पन्न होकर आपको घेर लेते हैं और आप उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ भूल जाते हैं।

१. वर्तुलाकारका अर्थ आगे चलनेपर स्पष्ट हो जायेगा।

इसी प्रकार किसी भी विषयके प्राप्त होनेपर आपके चित्तमें सदा ही कुछ न कुछ करने कराने विषयक अथवा उसे रोकने विषयक एक आद्य स्फुरणा जाग्रत होती है। इस आद्य स्फुरणाका नाम 'संकल्प' है। इस संकल्पको केन्द्रमें स्थापित करके अवान्तर क्षणसे ही अनेकों विकल्प जागृत होने प्रारम्भ हो जाते हैं। ये सभी विकल्प 'संकल्प' नामक उस केन्द्र-बिन्दुकी परिक्रमा करते हुये बराबर विस्तारको प्राप्त होते जाते हैं। कहाँसे प्रारम्भ होकर कहाँ पहुँच जायें, इसका कोई नियम नहीं। अर्थसे अर्थान्तर अथवा विषयसे विषयान्तर होते हुए ये कहींके कहीं पहुँच जाते हैं।

जैसे कि ऊपरवाले उदाहरणमें 'इसको चार आने देकर टालूँ' यह है आपके चित्तमें उत्पन्न होनेवाली संकल्प नामक प्रथम स्फुरणा। इसको केन्द्रमें स्थापित करके अवान्तर क्षणमें 'इन लोगोंका सुधार होना चाहिये' यह द्वितीय स्फुरणा है। संकल्पके पश्चात् यह उसकी परिक्रमा करनेवाला प्रथम विकल्प है। इसकी परिक्रमा करते हुए अवान्तर क्षणमें ही एक दूसरा विकल्प उत्पन्न होता है कि, 'भारतमें ही भीख माँगनेकी प्रथा है, अन्य देशोंमें नहीं'। इस द्वितीय विकल्प की परिक्रमा करते हुए अवान्तर क्षणमें ही एक तृतीय विकल्प उत्पन्न होता है कि, 'इसका कारण है भारतकी निर्धनता'। इसकी परिक्रमा करते हुए तुरन्त ही एक चौथा विकल्प आता है, 'भारतको निर्धन बनानेवाले ये विदेशी ही तो हैं'। इसकी परिक्रमा करते हुए तुरन्त ही पंचम विकल्प आता है, 'भारतमें विदेशियोंका प्रवेग सर्वप्रथम सिकन्दरसे प्रारम्भ हुआ'। इसकी परिक्रमा करते हुए तुरन्त ही छठा विकल्प आता है, 'विश्वका द्वितीय महायुद्ध भी उसीकी एक कड़ी थी'। तुरत एक सातवाँ विकल्प आता है, 'आज तृतीय महायुद्धकी तैयारी हो रही है' इत्यादि।

इस उदाहरणपर से आपने देखा कि भिखारीको पैसा देनेके संकल्पसे प्रारम्भ होकर आपके विकल्प अर्थसे अर्थान्तर होते हुए कड़ीबद्ध रूपसे धीरे-धीरे तृतीय महायुद्धकी विभीषिका तक पहुँच गये, पैसा देते समय आप जिसका स्वप्न भी नहीं देख सकते थे। इस प्रकार आद्य स्फुरणावाले संकल्पको मध्यमें स्थापित करके उसकी परिक्रमा करनेवाले धारावाही विकल्पोंका पिण्ड ही चित्तका निज स्वरूप है। इसीलिये पहले इन्हें वर्तुलाकार कहा गया है। भावात्मक होनेसे वास्तवमें वहाँ कोई आकार होना सम्भव नहीं है।

५. मध्यलोक

परस्पर परिवेष्टित असंख्यात् वर्तुलाकार द्वीप समुद्रोंका पिण्ड शास्त्रमें मध्यलोकका स्वरूप बताया गया है। उसके रूपमें चित्रित करनेके उद्देश्यसे ही यहाँ जलगत वीचमालाका उदाहरण देकर विकल्पोंका चित्रण किया गया है। असंख्यात विकल्पोंके पिण्डरूप यह चित्त ही इस शरीरमें स्थित आभ्यन्तर शरीरकी नाभि है और यही आभ्यन्तर जगतका मध्यलोक है।

विकल्पोंके मध्य अचल रूपसे स्थित होनेके कारण संकल्प नामकी आद्य स्फुरणा सुमेरु-पर्वत है और उसकी परिक्रमा करते रहनेके कारण विकल्प ही द्वीप-समुद्र हैं जिनकी संख्या गणनातीत होनेसे असंख्यात हैं। प्रत्येक अवान्तर विकल्पका विषय-क्षेत्र अपनेसे पूर्ववर्ती की अपेक्षा द्विगुण-द्विगुण विस्तार युक्त है, यह बात व्यक्तिके लिये अनुभव-सिद्ध है।

प्रथम दो-तीन विकल्पोंकी पूर्ति ही उसके लिये कदाचित् तत्काल सम्भव हो सकती है उससे अधिक नहीं, इसलिये उतना मात्र ही अढाई-द्वीप-प्रमाण उसका मनुष्य-लोक है। उसके बाह्यवर्ती अन्य सकल विकल्पोंके विषयका स्पर्श अथवा पूर्ति उसके लिये किसी

भी प्रकार तत्काल सम्भव न होनेसे वे सब उस मनुष्य-लोकके बाहर स्थित तिर्यक्-लोक है। असंख्यात् विकल्प-निर्मित इस मध्य-लोकको, मनुष्य-लोक और तिर्यक्-लोकके रूपमें द्विधा विभक्त करने-वाली यह असम्भवता ही, मनुष्यकी गतिको अवरुद्ध करनेवाली अवधि या मानुषोत्तर पर्वत है।

इसीप्रकार अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक भी चित्तगत इस विकल्प-लोकमें देखे जा सकते हैं, परन्तु वाग्गौरव मात्र होनेसे उनका कथन करना यहाँ इष्ट नहीं है। आपके भीतर एक वैकल्पिक जगत बसा हुआ है, जिसका कोई ओर-छोर नहीं है। न जाने ऐसे-ऐसे कितने जगत प्रतिक्षण चित्त-सागरमें उन्मज्जित तथा निमज्जित होते रहते हैं। यही है आपका आभ्यान्तर-जगत जो बाहरकी अपेक्षा आपके अधिक निकट है, और इसलिये बाहरकी अपेक्षा अधिक सत्य है। इतना मात्र समझ लेना ही यहाँ पर्याप्त है। ●

१. शब्द नहीं भाव

क्यों चुप क्यों हो गये ? लज्जितसे क्यों प्रतीत होते हैं ? हक्के-बक्केसे क्यों दिखाई देते हैं ? क्या इसलिए कि अपने भीतर स्थित सत्यको आज तक आप न जान सके, अपनी वस्तुको स्वयं न पहचान सके, अपने ही जीवनको स्वयं न देख सके, दूसरोंको समझाते फिरे परन्तु स्वयं न समझ सके ? हाँ-हाँ ठीक है, दशा तो वास्तवमें ऐसी ही है । परन्तु लज्जित मत हों क्योंकि आपकी ही नहीं सबकी यही दशा है । चकित भी मत हों क्योंकि यह कोई जादूका खेल नहीं, सत्य है । नहीं जान सके, नहीं समझ सके इत्यादि भाव जाग्रत करके मनमें दीनता मत लायें, क्योंकि जो आज जानते तथा समझते हैं वे भी कल आप जैसे ही थे । भैया ! यह सब भी वास्तवमें तेरे विकल्प हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं । इसलिए उस जगतके अन्तर्गत ही हैं, उससे बाहर कुछ नहीं ।

यहाँ अनेकों प्रश्न हो सकते हैं—चित्त क्या वस्तु है, उसमें विकल्प कहाँसे आते हैं और कहाँ चले जाते हैं, इन विकल्पोंका

उपादान तथा निमित्त क्या है, जिस विषयको लेकर यह वर्तता है वह विषय कहाँ रहता है, इत्यादि। इन सब प्रश्नोंका समाधान प्रस्तुत करनेके लिए चित्तको और अधिक निकटसे देखनेकी आवश्यकता है। लीजिए, मैं आपको इसका सकल रहस्य समझाता हूँ, परन्तु तनिक ध्यान देकर सुनिये। मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्दोंका संकेत जिस ओर हो रहा है उस ओर देखिये, शब्दोंकी ओर नहीं। शब्दका आश्रय लिये बिना समझने समझानेका व्यवहार सम्भव नहीं है, परन्तु शब्दोंमें कुछ नहीं है। वे जिस पदार्थकी ओर संकेत करते हैं उसे ही समझना तथा समझाना इष्ट है, शब्दको नहीं। अतः 'यह शब्द किस शास्त्रमें लिखा है, इसकी व्युत्पत्ति व्याकरणकी अपेक्षा किस प्रकार हुई है', इत्यादि विकल्प न कीजिये। मेरी भाषा शास्त्रीय नहीं है, जनसाधारण जैसी है। यहाँ शास्त्र प्रमाणकी भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो बात बताई जाने वाली है वह आ-बाल-गोपाल सबके नित्य अनुभवमें आ रही है। इसलिये जो कुछ भी कहूँ उसे अपने निज अनुभवसे ही प्रमाण कीजिये, किसी दूसरेसे मत पूछिये। जो कुछ पूछना है मुझसे ही पूछिये क्योंकि हो सकता है कि मेरे अभिप्रायको दूसरा व्यक्ति उतना विशद करके न बता सके जितना कि मैं स्वयं बता सकता हूँ। कदाचित् उसमें भ्रान्तिवश अर्थका अनर्थ हो जाना भी सम्भव है। मेरे इस सकल कथनका रहस्य स्वयं आपके भीतर स्थित है। अतः थोड़ी देरके लिये इन्द्रियोंका आश्रय छोड़कर केवल अपने भीतर देखें। वहाँ आपको सब कुछ प्रत्यक्ष हो जायेगा।

२. चित्तका वाच्यार्थ

'चित्त' शब्दका अर्थ इस शरीरके भीतर स्थित कोई अंग-विशेष नहीं है। विकल्प-युक्त ज्ञानका नाम ही चित्त है। अपने समक्ष विद्यमान या उपस्थित किसी भी पदार्थको जान

लेनेकी सामान्य शक्तिका नाम 'ज्ञान' है और उसके समक्ष विद्यमान या उपस्थित उस पदार्थको ज्ञेय कहा जाता है जो कि उस समय ज्ञानका विषय बना हुआ है। यह ज्ञेय दो प्रकारका होता है—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। आँखके समक्ष विद्यमान भगवत्प्रतिमा तथा पढ़े जाने योग्य शास्त्रोल्लिखित शब्द, अथवा श्रोत्रके समक्ष विद्यमान गुरु आदिके मुखोद्भूत शब्द बाह्य ज्ञेय हैं। आँख बन्द कर लेनेपर भी अन्तर्मनमें जो उसी भगवत्प्रतिमा तथा शास्त्रोल्लिखित शब्दका प्रत्यक्ष होता है अथवा कान बन्द कर लेनेपर भी अन्तर्मनमें गुरु आदिके मुखोद्भूत शब्द ज्योंके त्यों सुने जाते प्रतीत होते हैं, वे सब आभ्यन्तर ज्ञेय हैं।

इन दोनों प्रकारके ज्ञेयोंको जाननेके लिए हमें जिस साधन या यन्त्रका आश्रय लेना पड़ता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। उसे ही सैद्धान्तिक भाषामें करण अर्थात् साधन कहते हैं। ज्ञेयकी भाँति करण भी दो प्रकार का होता है, बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य ज्ञेयको जाननेके साधन नेत्र श्रोत्रादि जिस प्रकार बाह्य करण हैं, उसी प्रकार आभ्यन्तर ज्ञेयको जाननेका साधन 'अन्तष्करण' है। यह अन्तष्करण ही यहाँ चित्त शब्दके द्वारा अभिहित किया गया है, जिसका विशद तथा विश्लिष्ट रूप आगे दर्शाया जायेगा।

३. अक्षय कोष

दूसरा प्रश्न यह है कि चित्तमें ये विकल्प कहाँसे आते हैं और कहाँ चले जाते हैं। उपर्युक्त कथनपरसे यह स्पष्ट है कि 'चित्त' नामसे प्रसिद्ध इस अन्तष्करणमें ये विकल्प न तो कहीं बाहरसे आते हैं और न उसमें से निकलकर कहीं बाहर जाते हैं। उसीमेंसे आते हैं और उसीमें लीन होकर अथवा डूबकर समाप्त हो जाते हैं।

तृतीय प्रश्न यह है कि इन विकल्पोंका उपादान तथा निमित्त कारण क्या है। इसका उत्तर भी उपर्युक्त द्वितीय उत्तरमें अन्तर्भूत

है। चित्तमेंसे उद्भूत होनेके कारण इसका उपादान कारण तो चित्त है ही, निमित्त कारण भी वास्तवमें वह ही है। क्योंकि आभ्यन्तर ज्ञानमें वस्तुतः उसके अतिरिक्त कुछ अन्य है ही नहीं जिसे कि उसका निमित्त कहा जा सके।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पदार्थकी अनुपस्थितिमें भी ज्ञान में ये ज्ञेय कहाँ से आते हैं? इसका उत्तर तो अगले अधिकारोंमें विस्तारके साथ दिया जानेवाला है, यहाँ केवल इतना अवधारण कर लीजिए कि ज्ञानमें यह सामर्थ्य है कि आवश्यकता पड़नेपर वह स्वयं अपनेको अहंता तथा इदंताके रूपमें द्विधा विभक्त कर लेता है। एक होते हुए भी वह स्वयं दो बन जाता है—विषय भी स्वयं बन जाता है और विषयी भी, ज्ञाता भी और ज्ञेय भी, ध्याता भी और ध्येय भी, विचारक भी और विचार्य भी, चिन्तक भी और चिन्त्य भी, मन्ता भी और मन्तव्य भी।

ज्ञानगत इस द्वैतमें हम अहंता या विषयीको चित्त कह सकते हैं^१ और इदंता रूप उसके विषयको उसका चैत्य। आभ्यन्तर जगतमें ये दोनों ही वास्तवमें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। इसलिए यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि 'चित्त' विकल्पोंके लिए अपने विषयको कहाँसे प्राप्त करता है, जहाँ वह स्थित है वहाँ ही उसका विषय भी स्थित है। विषय और विषयी ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। एकके बिना दूसरा सम्भव नहीं। इसलिए हम कह सकते हैं कि चित्त ज्ञानका ही एक विशेष रूप है जो अपने विषयको ज्ञानके कोषमें से निकालता है और उसे पुनः वहाँ ही स्थापित कर देता है।

१. चित्त शब्द कहनेपर मन बुद्धि तथा अहंकारका भी अनुक्त ग्रहण हो जाता है, जिनका परिचय आगे यथा स्थान दिया जाएगा।

ज्ञानका यह कोष अक्षय है। अनन्त विषय निकल जानेपर भी यह कर्भा समाप्त नहीं होता। मनोवैज्ञानिक लोग इसे Subconci-ence (उपचेतना) कहते हैं। विकल्पोंके रूपमें उदित हो होकर डूबता रहनेवाला जो ज्ञान बाह्य स्तर पर प्रतीत होता है वह यद्यपि व्यवहार भूमिपर concience या चेतना नामसे प्रसिद्ध है तदपि subconciencia या उपचेतनाकी यह एक क्षुद्रतम स्फुरणा मात्र है और उसके समक्ष कुछ भी नहीं है। सागरका उदाहरण दें तो हम विकल्प धीवियोंसे युक्त इस बाह्य concience या चेतनाकी तुलना उसके उस ऊपरी तलसे कर सकते हैं जिसमें कि तरंगवाली उठती तथा डूबती प्रतीत हो रही है। परन्तु subconciencia या उपचेतनाकी तुलना तल भागमें स्थित उस महोदधिके साथकी जाती है जिसमें से कि ये तरंगें उदित हो रही हैं और ज्वलके वक्षपर कि ये खेल रही हैं। मनोवैज्ञानिकोंकी दृष्टिमें तल-भागवर्ती उपचेतनाके समक्ष इस वैकल्पिक बाह्य चेतनाका कोई मूल्य नहीं है। ●

१. ज्ञानका विभक्तिकरण

चित्त महामायावी है। जो नहीं है उसे बनाकर जगतको दिखा देना माया है। चित्त भी क्योंकि अपने भीतर अनहुआ जगत बसाता है इसलिए मायावी है। हम पहले बता आये हैं कि ज्ञान अपनेको अहंता तथा इदंताके रूपमें अथवा ज्ञाता और ज्ञेयके रूपमें द्विधा विभक्त कर लेनेके लिए समर्थ है। आइए उसकी सामर्थ्यका कुछ विशेषताके साथ अध्ययन करें।

‘अहमिदं जानामि’ अर्थात् मैं इसको जानता हूँ’ इत्याकारक प्रतीति ‘ज्ञान’ का सामान्य लक्षण है। ज्ञानके इस सामान्य लक्षणमें ‘अहं घटं जानामि’ (मैं घट को जानता हूँ), इत्यादि रूपसे जिस-प्रकार समस्त बाह्ययार्थोंका ग्रहण समाविष्ट है, उसी प्रकार ‘अहं शास्त्रार्थजानामि’ (मैं शास्त्रके वाच्यार्थको जानता हूँ) इत्यादि रूपसे अखिल शब्दोंके वाच्य-वाचक सम्बन्धका ग्रहण भी गर्भित है। इसके अतिरिक्त ‘अहमात्मानं जानामि’ (मैं आत्माको जानता हूँ) इत्यादि रूप से सकल आध्यात्मिक विषयोंका ग्रहण भी बिना कहे जान लेना चाहिए।

ज्ञानके सम्बन्धमें प्रस्तुत इस विचारमें हम दो पदार्थोंका दर्शन कर रहे हैं--'अहं' का तथा 'इदं' का अर्थात् ज्ञाताका और ज्ञेयका। 'जानामि' (जानता हूँ), यह एक क्रिया है जो दोनोंके मध्य सेतुका काम कर रही है, अर्थात् अहंको इदंके साथ और इदंको अहंके साथ संयुक्त करती है। इन तीनों पदोंमें से 'जानामि' का वाच्यार्थ आ-बालगोपाल प्रसिद्ध है, क्योंकि जाननरूप क्रियाकी प्रतीति सभी कर रहे हैं। अतः 'अहं' तथा 'इदं' इन दो पदोंका वाच्यार्थ ही यहाँ मननीय है।

बहुत सम्भव है कि यहाँ आपके मनमें यह शंका जाग्रत हो जाये कि 'जानामि' की भाँति 'अहं तथा इदं' का अर्थ भी तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, फिर इसका व्यर्थ पिष्टपेषण क्यों किया जाय ? ठीक है, परन्तु जैसा कि आप देखेंगे यह व्यर्थका पिष्टपेषण नहीं है। इन दोनों पदोंके विचार द्वारा हमें यहाँ आभ्यन्तर ज्ञानकी प्रक्रियाका एक विशेष रहस्य उद्घाटित करना इष्ट है। लीजिये, तनिक सावधान होकर सुनिये और सुननेके साथ-साथ अपने भीतर स्थित मेरे संकेतोंके अर्थोंका निरीक्षण करते रहिये। बाह्य ज्ञानके क्षेत्रमें जिसप्रकार अहं तथा इदं प्रसिद्ध हैं, उस प्रकार आभ्यन्तर ज्ञानके क्षेत्रमें नहीं हैं। बाह्य ज्ञानकी प्रक्रियाको उदाहरण मानकर ही आभ्यन्तर ज्ञानकी प्रक्रियाका अध्ययन किया जा सकता है। इसलिये आइये पहले हम बाह्य ज्ञानकी प्रक्रियाका विश्लेषण करें।

२. अहम् इदम्

बाह्य ज्ञानमें एक तो 'अहमिदं जानामि' कहनेवाला शरीर-धारी रामलाल है जोकि जाननरूप कार्य कर रहा है और दूसरे उसके नेत्रोंके समक्ष विद्यमान प्रतिमा रूपी भगवान् हैं जिन्हें कि वह जान रहा है। जाननरूप क्रियाको करनेके कारण रामलाल उस ज्ञानका कर्ता है और जाननेमें आनेवाले भगवान्

उसके ज्ञेय हैं। ज्ञाता 'अहं' है और ज्ञेय 'इदं'। ये दोनों एक दूसरेसे पृथक् स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थ हैं, जिनका परस्परमें कोई सम्बन्ध नहीं। दोनों के नाम तथा रूप पृथक् हैं और उनके क्षेत्र भी भिन्न हैं। ज्ञातारूप 'अहं' का नाम रामलाल है और ज्ञेयरूप 'इदं' का नाम भगवान् है। ज्ञातारूप 'अहं' का रूप उसके शरीरका आकार है और ज्ञेयरूप 'इदं' का रूप प्रतिमाका आकार है। ज्ञातारूप 'अहं' का क्षेत्र रामलालका शरीर है और ज्ञेयरूप 'इदं' का क्षेत्र प्रतिमाका शरीर है। बस इन दोनोंकी यह त्रिविध पृथकता दर्शानी ही मुझे इष्ट थी। इसे ध्यानमें रखिये और मेरी अँगुली पकड़कर अपने भीतर अन्तष्करणमें प्रवेश कीजिए।

अन्तष्करणमें प्रतीयमान आभ्यन्तर ज्ञानमें भी बाह्य ज्ञानकी भाँति अहं-इदं अथवा ज्ञाता-ज्ञेय विद्यमान हैं। उनके नाम और रूप भी वही हैं। रामलालके रूपको धारण करनेवाला 'अहं' ज्ञाता है और प्रतिमाके रूपको धारण करनेवाला 'इदं' ज्ञेय है। आँख बन्द कर लेनेपर भी वहाँ इन दोनों की प्रतीति उसी प्रकारसे होती है जिस प्रकार कि आँख खोल लेनेपर बाहरमें होती है। भीतर अन्तष्करणमें भी वैसा ही रामलाल, वैसा ही मन्दिर तथा उसमें स्थित वैसी ही भगवत्प्रतिमा स्पष्ट प्रतीतिका विषय बन रही है। भीतरमें स्थित यह रामलाल भी उसीप्रकार 'अहमिदं जानामि' कहता प्रतीत हो रहा है जिस प्रकार कि बाह्य रामलाल। अन्तर केवल इतना है कि बाह्य रामलालका तथा उसके समक्ष विद्यमान बाह्य प्रतिमाका दर्शन जिसप्रकार दूसरे व्यक्ति कर रहे हैं उस प्रकार आभ्यन्तर रामलालका तथा उसके समक्ष विद्यमान आभ्यन्तर प्रतिमाका प्रत्यक्ष दूसरे व्यक्ति करनेके लिए समर्थ नहीं हैं।

बाह्य रामलालके अतिरिक्त यह द्वितीय आभ्यन्तर रामलाल और बाह्य प्रतिमा के अतिरिक्त यह द्वितीय आभ्यन्तर प्रतिमा वास्तवमें क्या वस्तु हैं यह विचारणीय है। क्या ये दोनों अपने

अपने भिन्न क्षेत्रोंमें स्थित स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थ हैं या कुछ और हैं ? आपका अन्तष्करण स्वयं इस बातका साक्षी है कि ये दोनों बाह्य वालोंकी भाँति स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थ न होकर ज्ञानात्मक ही कुछ हैं । ये दोनों ज्ञानमें कल्पित आकृतियों हैं, अन्य कुछ नहीं । बस इसपर से सिद्धान्त निर्धारित कर लीजिए कि आभ्यन्तर जगत्में प्रतीयमान अहं तथा इदं बाह्य वालोंके समान ही नाम रूपको धारण करते हैं तथापि वे उनकी भाँति स्वतन्त्र पदार्थ न होकर ज्ञानमें कल्पित किये गये होते हैं ।

३. माया

इसपर से एक द्वितीय सिद्धान्त स्वतः उदित हो जाता है कि ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि वस्तुतः एक होते हुए भी वह अहं तथा इदं के रूपमें द्विधा विभक्त हो सकता है । एक दूसरेसे पृथक् प्रतीयमान होते हुए भी ये दोनों वास्तवमें दर्पणके प्रतिबिम्बोंकी भाँति ज्ञानके प्रतिबिम्ब मात्र हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं । इतनी विशेषता है कि दर्पणमें वही वस्तु प्रतिबिम्बित होती है जोकि उसके समक्ष विद्यमान हो, परन्तु ज्ञानके लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है । बाहरमें वह वस्तु विद्यमान हो या न हो, ज्ञानमें वह प्रतिबिम्बित हो सकती है । जैसे कि सम्भेद-शिखर इस समय आपकी आँखोंके समक्ष विद्यमान नहीं है तदपि आँखें बन्द कर लेने पर वह ज्योंका त्यों आपके भीतर प्रतिबिम्बित हो रहा है और आप साक्षात् रूपसे स्वयं अपनेको उसकी बन्दना करते हुए देख रहे हैं ।

एक होते हुए भी अपनेको अहं तथा इदंके रूपमें द्विधा विभक्त करलेने वाली यह सामर्थ्य ही वह महामाया है जिसके द्वारा ज्ञानने अपना एक तथा अखण्ड स्वरूप ढक रखा है । इसलिए शास्त्रमें इसे ज्ञानावरण कहा गया है । विकल्पोंके रूपमें अनेकधा विभक्त होकर समग्रताका लोप हो जाना इसका स्वरूप है । ●

५-समग्र दर्शन

१. पूर्णतामें अपूर्णता

ज्ञान परमार्थतः अखण्ड है और इसीप्रकार उसका विषय भी अखण्ड है। ज्ञान व्यापक है और उसी प्रकार उसका ज्ञेय भी व्यापक है।

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालयं, तम्हा णाणं दु सव्वगयं ॥

आत्मा या चेतना ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय समस्त लोकालोक अथवा विश्वप्रमाण है। समग्र विश्वको युगपत् विषय करनेके लिए समर्थ है इसलिए ज्ञान सर्वगत है। उसके साथ तादात्म्यको प्राप्त होनेसे आत्मा या चेतना भी सर्वगत या विभु है। भले ही द्रव्य-प्रदेशोंकी अपेक्षा उसे विभु अथवा सर्वव्यापक न कहें परन्तु भावात्मक ज्ञान-शक्तिकी अपेक्षा तो वह विभु या सर्वव्यापक है ही।

इत्याकारक तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर 'अहम्' भी पूर्ण है और 'इदम्' भी पूर्ण है। यह पूर्ण इदं इस पूर्ण अहं में स्थित है। इसमें से ही उदित होता है और इसीमें डूब जाता है। न बाहरमें कुछ

आत्मा है और न बाहर कुछ जाता है। मत भूलिये कि मैं आपको आभ्यन्तर जगत्की सैर करा रहा हूँ और वहाँ खड़ा होकर ही यह सब कुछ बोल रहा हूँ। अतः मेरे इन शब्दोंपर से छलं ग्रहण करके यह न कहना कि मैं बाह्य जगतके इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थोंको एक तथा अखण्ड कह रहा हूँ। मेरा प्रयोजन केवल ज्ञानके स्वरूपका तथा उसकी विचित्र शक्तिका दर्शन कराना इष्ट है। जिस 'अविद्या' के कारण वह अपनी पूर्णता को भूलकर क्षुद्र बना हुआ है उस अविद्याको विजय करना तथा कराना ही मेरा प्रयोजन है।

जिसप्रकार अविद्यावश हम ज्ञानको पूर्ण अथवा समग्र ग्रहण न करके उसमें अहम् इदम् का द्वैत उत्पन्न कर लेते हैं और इस प्रकार उसे क्षुद्र बना देते हैं, इसी प्रकार अविद्यावश हम उस ज्ञानके ज्ञेयको अर्थात् लोकालोक प्रमाण इस विश्वको भी पूर्ण अथवा समग्र ग्रहण न करके उसमें यह वह, यहां वहां, अब तब, ऐसा वैसा आदि का द्वैत उत्पन्न कर लेते हैं और इस प्रकार उसे क्षुद्र बना देते हैं। जिसप्रकार संग्रह दृष्टिसे देखने पर हाथ पांव आदि विभिन्न अंगोंसे समवेत यह शरीर एक तथा अखण्ड है, परन्तु भेद दृष्टिसे देखनेपर वह हाथ पांव आदि विविध अंगोंके रूपमें विभक्तसा हुआ प्रतीत होता है। उसी प्रकार संग्रह दृष्टि से देखनेपर अनन्तानन्त जड़ चेतन पदार्थोंसे समवेत यह विश्व एक अखण्ड महासत्ता है, परन्तु भेद दृष्टिसे देखनेपर यही इन पदार्थोंके रूपमें विभक्तसा हुआ प्रतीत होता है। तहां इसे विभक्तवत् देखना अविद्या है और एक अखण्ड महासत्ताके रूपमें देखना विद्या है जो आगे जाकर केवल-ज्ञानका रूप धारण कर लेती है।

२. पूर्णता

'अहं' तथा 'इदं' इन दोनोंको पूर्ण देखनेवाला व्यक्ति सर्वज्ञ तथा केवली कहलाता है। सबको युगपत् देखनेके कारण वह

सर्वज्ञ है और एक अखण्ड पूर्ण तथा अधिभक्त देखनेके कारण केवली है। 'अहं' तथा 'इदं' की यह पूर्णता दो प्रकारसे दृष्ट हो सकती है—एक तो बिना किसीकी सहायताके स्वयं अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष करके और दूसरे शास्त्रादिकी सहायतासे बुद्धिके द्वारा निर्णय करके। पहली प्रकारसे देखने वाले को केवली कहते हैं और दूसरे प्रकार से देखने वालेको श्रुतकेवली। भले ही हम वर्तमानमें केवली होनेके लिए समर्थ न हों, परन्तु क्या श्रुतकेवली भी नहीं हो सकते? कहीं वाणीके कोपके भाजन न बन जाएँ इस प्रकार का भय सम्भवतः आपके मार्गमें आड़े आ रहा है, परन्तु मत घबराइये, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि कदाचित् आप 'अहं' तथा 'इदं' इन दोनोंके पूर्ण तथा अखण्ड स्वरूपको समझकर अपने देखने तथा जाननेका व्यवहार इसके अनुसार करने लगे तो अवश्य श्रुतकेवली बन जायें। तब वाणी माता कुपित होनेकी बजाये तुम्हें स्वयं आशीर्वाद देगी।

“जो सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिणं दु केवलं सुद्धं ।
सुयकेवलमिसिणो, भणंति लोयप्पईवयवा ॥”

जो श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको अर्थात् अहं को और साथ-साथ उसके विषयभूत इदं को भी केवल तथा शुद्ध जानता है, अर्थात् एक अखण्ड पूर्ण तथा निर्विकल्प जानता है, उसे लोकालोकको प्रत्यक्ष करनेवाले केवली भगवान् श्रुतकेवली कहते हैं।

३. पूर्ण इदंता महासत्ता

अहम् की पूर्णताका कथन अगले अधिकारमें करूंगा। यहां पहले इदं की पूर्णताका थोड़ासा चित्रण करता हूँ। तनिक ध्यान से देखिये, क्योंकि इस प्रकारका कथन सम्भवतः आपने इससे पहले कभी भी किसीके मुखसे नहीं सुना है। इसलिए सन्देह न करना, केवल देखना। यदि इसी प्रकार दिखाई दे तो

प्रमाण करना, अन्यथा व्यर्थका बाल-प्रलाप समझकर छोड़ देना और क्रोध करने की बजाये एक बालक समझकर मुझे क्षमा कर देना ।

चर्म चक्षुओंसे देखनेपर जहां मनुष्य, पशु, स्त्री पुरुष, इष्ट, अनिष्ट आदि पृथक्-पृथक् पदार्थ दिखाई देते हैं, वहां ही तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर एक अखण्ड इकाई दिखाई देती है, एक अखण्ड तथा पूर्ण महासत्ता दिखाई देती है, एक महासागर दिखाई देता है, एक विशाल नगर दिखाई देता है, एक महावन दिखाई देता है, एक बड़ा कारखाना दिखाई देता है । समग्रको देखनेवाली इस दृष्टिको ही मैं समग्र कहता हूं ।

जिस प्रकार अनन्त जल-राशिसे समवेत सागरमें अनन्तों तरंगों हैं, सब उसीमें से निकलती हैं, उसीके वक्षपर खेलती हैं और उसीमें डूबकर विलीन हो जाती हैं; कोई छोटी है और कोई बड़ी; परस्परमें टकराती हैं, टूटती हैं, फूटती हैं, गरजती हैं, नष्ट हो जाती हैं । इसी प्रकार अनन्तों पदार्थोंसे समवेत इस विश्वमें अनेकों जड़ चेतन पदार्थ हैं जिनके पारस्परिक संयोगसे अनेकानेक आकृतियाँ बनती हैं और विनष्ट हो जाती हैं । इसीमेंसे निकल रही हैं, इसीके वक्षपर खेल रही हैं और इसीमें डूबकर विलीन हुई जा रही हैं । कोई चेतन प्रतीत होती है और कोई जड़, कोई मनुष्याकार कोई पश्चाकार, कोई महत्त्वशाली और कोई तुच्छ । सब परस्परमें लड़-भिड़ रही हैं, बन बिगड़ रही हैं, गरज रही हैं और नष्ट हो रही हैं ।

जिसप्रकार तरंगोंके देखनेपर वे परस्परमें एक दूसरेसे विभक्त हैं, इसी प्रकार आकृतियोंको देखनेपर वे परस्परमें एक दूसरेसे विभक्त हैं । परन्तु जिस प्रकार सागरको पूर्ण तथा एक अखण्ड इकाईके रूपमें देखनेपर सब तरंगों एक सागर हैं और उनका मिलना बिछुड़ना उसका सौन्दर्य है, उसी प्रकार विश्वको पूर्ण तथा

एक अखण्ड सत्ताके रूपमें देखनेपर ये सब पदार्थ एक विश्व हैं और इनका संयोग वियोग उसका सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य का अभाव हो जाय तो यह चित्र-लिखितवत्, कूटस्थ होकर रह जाय। तब मैं तथा नू कहाँसे आयें ? न जगत हो और न इसका व्यवहार। जिस-प्रकार जीवित तथा चेष्टाशील रहनेपर ही शरीर सुन्दर प्रतीत होता है, मर जानेपर नहीं; उसी प्रकार चेष्टाशील होनेपर ही यह विश्व सुन्दर दिखाई देता है, कूटस्थ हो जानेपर नहीं।

जिसप्रकार किसी नगरकी गलियोंमें जाकर देखनेपर कहीं निर्माण दिखाई देता है और कहीं संहार, कहीं जन्म दिखाई देता है और कहीं मरण, कहीं हर्ष दिखाई देता है और कहीं विषाद, कहीं सुन्दर दिखाई देता है और कहीं असुन्दर, कहीं महल दिखाई देता है और कहीं टूटा फूटा खण्डहर, कहीं उपवन दिखाई देता है और कहीं श्मशान; इसी प्रकार इस विश्वके पदार्थोंको एक-एक करके ग्रहण करनेपर कहीं निर्माण दिखाई देता है कहीं संहार, कहीं जन्म कहीं मरण, कहीं हर्ष कहीं विषाद, कहीं इष्ट कहीं अनिष्ट। परन्तु जिस प्रकार वायुयानमें बैठकर उसी नगरको देखनेपर न कहीं निर्माण दिखाई देता है न कहीं संहार, न जन्म न मरण, न हर्ष न विषाद, न उपवन न श्मशान, केवल एक अखण्ड नगर दिखाई देता है, ये सकल द्वन्द्व जिसका सौन्दर्य हैं; इसी प्रकार समग्र दृष्टिसे इस विश्वको देखनेपर न कुछ निर्माण दिखाई देता है न संहार, न कुछ उत्पन्न हुआ दिखता है न विनष्ट, न इष्ट न अनिष्ट, केवल एक अखण्ड विश्व दिखता है, ये सकल द्वन्द्व जिसका सौन्दर्य है।

जिस प्रकार किसी वनके पदार्थोंको एक-एक करके देखनेपर कहीं हरियाली दिखती है और कहीं सूखा, कहीं वृक्ष और कहीं टूठ, कहीं पुष्प खिले दिखते हैं और कहीं गोबर तथा विष्टा; इसी प्रकार विश्वके पदार्थोंको एक-एक करके देखनेपर कहीं मनुष्य दिखता है और कहीं पशु, कहीं ब्राह्मण दिखता है और कहीं शूद्र

कहीं स्त्री कहीं पुरुष, कहीं इष्ट कहीं अनिष्ट । परन्तु जिस प्रकार समग्र वनको युगपत् देखनेपर इन सब विषमताओंसे समवेत वह वन केवल वन है अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार समग्र विश्वको युगपत् देखनेपर यह विश्व केवल विश्व है अन्य कुछ नहीं ।

जिस प्रकार किसी कारखानेमें अनेकों मशीनें हैं और प्रत्येक मशीनमें अनेकों पुर्जें हैं, सब परस्पर एक दूसरेसे सहयोग प्राप्त करते हुए और परस्परमें एक दूसरेको सहयोग देते हुए अपना कार्य कर रहे हैं; उसीप्रकार इस विश्वमें अनेकों जड़ व चेतन पदार्थ हैं, सब परस्परमें एक दूसरेसे सहयोग प्राप्त करते हुए तथा परस्परमें एक दूसरेको सहयोग देते हुए अपना-अपना कार्य कर रहे हैं । जिस प्रकार मूल्यकी दृष्टिसे देखनेपर कोई बड़ी गरारी है और कोई उसे शैफ्टके साथ बांधकर रखने वाली छोटीसी पिन । इसी प्रकार विषयकी दृष्टिसे देखनेपर इस विश्वमें चेतन पदार्थ अधिक महत्व-शाली हैं और जड़ पदार्थ तुच्छ । परन्तु जिस प्रकार अपने-अपने कामके महत्वकी दृष्टिसे देखनेपर उस छोटीसी पिनका भी उतनाही महत्व है जितना कि उस बड़ी गरारीका, इसी प्रकार अपने-अपने कामके महत्वकी दृष्टिसे देखनेपर जड़ पदार्थ भी उतने ही महत्वका है जितना कि चेतन पदार्थ, क्योंकि जिस प्रकार गरारीको हटा लेनेपर सारा कारखाना ठप हो जाता है उसी प्रकार उस पिनको हटा लेनेपर भी सारा कारखाना ठप हो जाता है । जिस प्रकार चेतन पदार्थको हटा लेनेपर विश्वकी सारी कार्यवाही ठप हो जाती है, उसी प्रकार जड़ पदार्थको हटा लेनेपर भी विश्वकी सारी कार्यवाही ठप हो जाती है ।

४. सागरमें बिन्दु

अन्तर्बाह्य एकरूप इस महाशून्यमें अथवा महावाकाशमें कहीं भी एक प्वायंट लगा देनेपर अथवा अंगुली टिका देनेपर पूर्व

पश्चिम आदि दिशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु प्वायंट हटा लेनेपर इनकी कहीं सत्ता दिखाई नहीं देती, केवल एक पूर्ण तथा अखण्ड महाआकाश ही दिखाई देता है। इसी प्रकार अन्तर्बाह्य एकरूप इस महाकालमें अर्थात् अनाद्यनन्त कालके अखण्ड प्रवाहमें कहीं प्वायंट लगा देनेपर अथवा अंगुली टिका देनेपर भूत-वर्तमान भविष्यत उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु प्वायंट हटा लेनेपर इनकी कहीं सत्ता दिखाई नहीं देती, केवल एक पूर्ण तथा अखण्ड काल-प्रवाह ही दिखाई देता है।

इसी प्रकार अन्तर्बाह्य एकरूप सत्ताके महासागरमें कहीं प्वायंट लगा देनेपर अथवा अंगुली टिका देनेपर इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य आदिके विविध बिन्दु उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु प्वायंट हटा लेनेपर इनकी कहीं सत्ता नहीं दिखाई देती, सर्वत्र सर्वदा सत्-सत्-सत् इस प्रकार केवल सत् ही दिखाई देता है अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार अन्तर्बाह्य एकरूप इस 'इदं'में कहीं भी कोई प्वायंट लगा देनेपर या अंगुली टिका देनेपर इसमें स्त्री पुरुष आदिकी विविध आकृतियों दिखाई देने लगती हैं और उनके साथ-साथ 'स्त्री' 'पुरुष' आदि उनके नाम भी उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु प्वायंट हटा लेनेपर इनकी कहीं सत्ता दिखाई नहीं देती, सकल नाम तथा रूप जिसके वक्षपर तैर रहे हैं ऐसा एक पूर्ण अथवा अखण्ड विश्व ही दिखाई देता है, अन्य कुछ नहीं।

५. महासत्

समग्रको युगपत् देखनेपर यह जैसा पहले था वैसा ही अब है और वैसा ही आगे रहनेवाला है। यही इसका ध्रौव्य तथा स्थायित्व है। परन्तु इसके भीतर प्वायंट लगा लगाकर देखनेसे यह क्षुब्ध है, बराबर बदले जा रहा है, कुछका कुछ हुए जा रहा है। यही इसका उत्पाद व्यय है, अस्थायित्व है। इस

प्रकार दोनों दृष्टियोंको समन्वित कर लेनेपर यह ध्रुव अथवा नित्य होते हुए भी परिवर्तनशील अथवा अनित्य है, एक होते हुए भी अनेक है, तत् होते हुए भी अतत् है, अभिन्न तथा अखण्ड होते हुए भी अनेकों पदार्थोंके रूपमें विभक्त है। इसका यह पूरा रूप ही है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ।

इस विस्तृत कथन में मैंने केवल यह चित्रित करनेका प्रयत्न किया है कि इदं को जाननेवाला अहं, तथा अहंका विषय बननेवाला इदं, ये दोनों ही दो-दो प्रकारसे देखे जा सकते हैं। अपने संकल्पका अथवा विकल्पका प्वायंट लगाकर और प्वायंट न लगाकर। प्वायंट लगाकर देखनेसे दोनों संकीर्ण हो जाते हैं और इसलिए विभक्त भी। प्वायंट न लगाकर देखनेपर दोनों पूर्ण एक तथा अखण्ड रहते हैं। इसलिए प्वायंट लगाकर जानना अविद्या है जिसके कारण यह वह, यहाँ वहाँ, अब तब, ऐसा वैसा इत्यादि रूप द्रव्यात्मक, क्षेत्रात्मक, कालात्मक तथा भावात्मक विविध द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। इन द्वन्द्वोंके कारण ही सागरकी तरंगोंवत् चित्तमें अनन्तानन्त विकल्प-वीचियों उत्पन्न होती हैं जिनके कारण वह सदा क्षुब्ध तथा श्रान्त बना रहता है। जैसाकि आगे बताया जायेगा इस क्षोभका अभाव ही जानेपर जो विश्रान्ति तथा शमता उत्पन्न होती है वह ही धर्म है, वह ही अमृत है। उसकी प्राप्तिके लिए अहं तथा इदं दोनोंको समग्र, पूर्ण तथा अखण्ड देखना ही वह तात्त्विक अथवा समीचीन दृष्टि है जिसे विद्या अथवा सम्यक्त्व कहा जाता है और कल्याणके मार्गमें जिसका स्थान सर्वोपरि समझा जाता है। ●

६-अहंकार दर्शन

१. पूर्णाहंता

इदंकी पूर्णता तथा समग्रताका कथन किया जा चुका, अब अहंकी पूर्णता तथा समग्रताका कथन करना है। मैंने बताया था कि एक होते हुए भी ज्ञान अपनेको अहं तथा इदंके रूपमें द्विधा विभक्त कर लेता है। बस यही इस ज्ञानकी अथवा समग्रकी व्यवहार-भूमि है। अहं तथा इदंका एकाकार रूप उसकी परमार्थ-भूमि है। इस भूमिमें अहं ही इदं है और इदं ही अहं है। इनमें कोई वस्तुभूत भेद नहीं है। अहं तथा इदंका यह एकाकार परमार्थ स्वरूप ही आत्मा या चेतना शब्दका वाच्यार्थ है। पहले तो अपनेको द्विधा विभक्त कर लेनेके कारण ही यह क्षुद्र हो गया है और इसपर भी द्रव्यात्मक क्षेत्रात्मक कालात्मक अथवा भावात्मक प्वायंट लगा देनेसे यह अणुसे भी अणु बन गया है। इसलिए स्वयं सब कुछ होते हुए भी अपनेको तथा अपनी महिमाको, अपने विभुत्वको तथा प्रभुत्वको नहीं जानता है।

यद्यपि आत्मा शब्द व्याख्याओंकी चादर ओढ़कर अपना वाच्य भूल गया है और काल्पनिक कुछ बन गया है, तदपि इस शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ग्रहण करके यदि विचार करें तो इसका सीधा-

साधा अर्थ 'अहं' अर्थात् Self होता है। जैसे कि 'आत्मकथा' अर्थात् मेरी अपनी कथा, 'अहं'का परमार्थिक स्वरूप क्योंकि ज्ञानाकार है और ज्ञानका परमार्थिक स्वरूप क्योंकि ज्ञेयाकार है इसलिए अहं, ज्ञान तथा ज्ञेय इन तीनोंमें परमार्थिक भूमिपर कोई अन्तर नहीं है; तीनों एक हैं, तीनों पूर्ण हैं, तीनों अखण्ड हैं। समझने तथा समझानेके लिए भले ही ये भिन्न करके कहे जायें, परन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। ज्ञेय भी वास्तवमें ज्ञानका ही कोई रूप है, उससे पृथक् कुछ नहीं। यदि ऐसा न होता तो इदं उसमेंसे स्फुरित न हो पाता। भूल न जाना कि मैं आभ्यन्तर ज्ञेयकी बात कर रहा हूँ, बाह्यकी नहीं।

२. संकीर्णता

ज्ञानकी शक्ति अनन्त है, इसलिये उसमें निष्ठ यह ज्ञेय भी अनन्त है, लोकालोक प्रमाण है। बहिर्करण अथवा अन्तःकरणकी सहायतासे होनेवाले जिस ज्ञानको हमने ज्ञान माना हुआ है, वह वास्तवमें ज्ञानका पूर्णरूप नहीं है। जिस प्रकार वेंटीलेटरके मार्गसे कमरेमें प्रवेश करनेवाला सूर्य-प्रकाश सूर्यप्रकाशके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इसी प्रकार बाह्य तथा अन्तरंग करणोंके मार्गसे भीतर प्रवेश करनेवाला ज्ञान ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तदपि जिस प्रकार सूर्यका वह प्रकाश पूर्ण प्रकाश न होकर उसका एक अत्यन्त संकीर्ण रूप है, उसीप्रकार करणाधीन यह ज्ञान भी पूर्ण ज्ञान न होकर उसका एक अत्यन्त संकीर्ण रूप है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशकी संकीर्णता वेंटीलेटरके कारणसे उत्पन्न होनेके कारण उसका परमार्थ रूप नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानकी यह संकीर्णता भी करणोंके कारणसे उत्पन्न होनेके कारण उसका परमार्थ रूप नहीं है। जिसप्रकार वेंटीलेटरको तोड़ देनेपर ही सूर्यका पूर्ण प्रकाश दृष्टिके समक्ष आता है उससे पहले नहीं, इसी

प्रकार इन करणोंका आश्रय छोड़ देनेपर ही ज्ञानका पूर्ण रूप दृष्टिके समक्ष आता है, उससे पहले नहीं। ज्ञान अथवा अहंका संकीर्ण रूप ही 'अहंकार' है।

३. अतुप्त कामना

ज्ञानका पूर्ण रूप वह है जो कि लोकालोकको अपने भीतर धारण किये बैठा है अथवा इस समग्र विश्वको आत्मसात् किये बैठा है, अपने स्वरूपके साथ एकरस किये बैठा है। समग्र होनेके कारण वही परमार्थ है, वही सर्वज्ञता है। अहंस्-इदंके रूपमें द्विधा विभक्त न होनेके कारण वह अखण्ड है, एक है। इसलिए वह 'केवल' कहलाता है। यही 'अहं' आत्मा या Self का परमार्थ स्वरूप है जिसे इन करणोंने संकीर्ण कर दिया है अथवा इन करणोंका आश्रय लेनेसे जो संकीर्ण हो गया है। वस्तुतः पूर्ण होनेके कारण अपनी इस संकीर्ण अवस्थामें वह सन्तुष्ट कैसे रह सकता है। सूर्यका प्रकाश तो जड़ है इसलिए उसकी सन्तुष्टि असन्तुष्टिका प्रश्न नहीं, परन्तु यह तो चेतन है। वेंटीलेटरमें से आनेवाला संकीर्ण सूर्य-प्रकाश भले अपनेको पूर्ण करनेके लिए कुछ प्रयत्न न करे, परन्तु चेतन होनेके कारण ज्ञान अथवा अहं तो करेगा ही।

'मैं अपने पूर्ण रूपको जानूँ', 'मैं अपने पूर्ण वैभवको भोगूँ', 'मैं अपनेको पूर्ण करूँ' इत्याकारक इच्छा ही उस 'अहं'की परमार्थ कामना है, और इस कामनाकी प्रेरणासे अपनेको पूर्ण जाननेके प्रति, अपनेको पूर्ण करनेके प्रति और अपनेको पूर्ण भोगनेके प्रति किया गया उसका प्रयत्न ही परमार्थ पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे युक्त 'अहं' अहंकार शब्दका वाच्य है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि अपनी पूर्णताकी प्राप्तिके लिये संघर्षरत अहं अहंकार' है और पूर्ण अहं 'आत्मा' या ज्ञान है।

यद्यपि अहंकारकी कामना, प्रयत्न तथा पुरुषार्थ परमार्थतः अपनेको पूर्ण करनेके लिये है, अपनी संकीर्णताको दूर करनेके लिए है, तदपि इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जिन करणोंका आश्रय उसने ले लिया है वे महा आकाशमें एक छिद्रकी भाँति अत्यन्त क्षुद्र हैं। यही कारण है कि पूर्ण होते हुए भी अहंकार क्षुद्र हो गया है, उसकी कामना समग्रके प्रति न होकर उसमें से किसी एक छोटेसे अंगके प्रति अर्थात् देहाध्यस्त अपने क्षुद्र व्यक्तित्वके प्रति अथवा किसी एक जड़ या चेतन पदार्थके प्रति केन्द्रित हो गयी है। जानने, करने तथा भोगनेका उसका सकल प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ भी समग्रके प्रति न होकर उसी क्षुद्रके प्रति केन्द्रित हो कर रह गया है। समग्रको छोड़कर उसके अंगभूत किसी एक वस्तुके प्रति केन्द्रित हो जानेके कारण वह स्वयं, उसकी कामना तथा पुरुषार्थ सब संकीर्ण हो गए हैं।

‘थोथा चना बाजे घना, ओछा घड़ा छलके घना’, इस न्यायके अनुसार वह चंचल है। एक पदार्थको छोड़कर दूसरेके प्रति और दूसरेको छोड़कर तीसरेके प्रति दौड़ता है। वह एक-एकको पकड़कर अपनेको पूर्ण कर लेना चाहता है, परन्तु ज्यों-ज्यों आगे जाता है, पिछला पिछला उसके हाथसे छूटता जाता है। इसलिए ‘आगे बांटे जेवड़ी पीछे बछड़ा खाय’ की लोकोक्तिके अनुसार वह अनादि कालसे संघर्षरत रहते हुए भी न तो आजतक समग्रको हस्तगत कर सका है और न आगे कर सकेगा। करणोंका आश्रय लेना उसकी भूल है जिसे वह नहीं समझ पाता। यही उसकी वह **अविद्या** है जिसे कि शास्त्रोंमें मिथ्यात्व कहा गया है।

अपनी इस भूलके कारण वह सदा विकल्प-वीचियोंके रूपमें क्षुब्ध रहता है, सदा भागता दौड़ता रहता है, परन्तु जिसप्रकार कोल्टूके साथ बन्धा होनेके कारण तेलीका बैल सारा दिन चलकर भी वहाँका वहाँ ही रहता है, इसी प्रकार समग्रसे विभक्त किसी

एक क्षुद्रके साथ अर्थात् किसी एक जड़ या चेतन पदार्थके साथ बँधा होनेके कारण अहंकार सारा दिन जानने करने तथा भोगनेका काम करते रहते भी तृप्त नहीं हो पाता। तेलीके बैलकी भाँति वह अपने केन्द्रमें स्थापित उस क्षुद्रकी परिक्रमा मात्र करता है, परन्तु एक बाल बराबर भी आगे नहीं बढ़ता अथवा उस केन्द्रका तनिक मात्र भी विस्तार नहीं करता है। यही है उसकी अतृप्त कामना और असफल पुरुषार्थ। ज्ञानीजन जब उसे जगानेके लिए उसके इस असफल पुरुषार्थपर हल्कीसी चोट लगाते हैं तो वह गरज उठता है। इसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। एक तो थका मांदा पहले ही पड़ा था और आशा कर रहा था कि कोई मेरे धैर्यको शाबाश देगा, उल्टा उसके जख्मों पर नमक छिड़क दिया। बेचारा गरजे नहीं तो क्या करे। अंधेको अंधा कहनेसे उसे क्रोध आता है, इसी प्रकार असफलको असफल कहनेसे उसे क्रोध आता है। यह क्रोध इसकी अतृप्ति तथा निराशाका द्योतक है।

४. बिन्दुसे सागर

आ प्रभु आ। मैं तुझे साग्वना दूँगा, तुझे अंधा न कहकर सूरदास कहूँगा, तुझे असफल न कह कर पुरुषार्थी कहूँगा। तू थोड़ी देरके लिए 'मैं करूँ' 'मैं भौगूँ' ऐसी कामनाको छोड़कर 'मैं जानूँ' ऐसी कामना कर। परन्तु 'पदार्थको जानूँ' ऐसी कामनाको छोड़कर केवल 'मैं जानूँ' इतनी मात्र कर। इन्द्रियोंकी शरण छोड़कर तत्त्वकी शरणमें जा।

इस समग्रमें से अपनी रुचिके अनुसार छाँट छाँटकर जो तूने किन्हीं विषयोंपर मेरेपनेकी और किन्हीं विषयोंपर तेरेपनेकी मोहरें लगा दी हैं उन्हें धो डाल। बस जैसा-कैसा भी यह महासागर है

इसे देख । इसका तमाशा देख, इसकी उछल-कूद देख, स्वयं न उछल । यही होगा तेरा सफल पुरुषार्थ । क्योंकि ऐसा करनेसे समग्रको पकड़ने, अपनाने तथा भोगनेकी जो तेरी कामना है, वह एक क्षणमें पूरी हो जाएगी । तू अणुसे महान् बन जाएगा, बिन्दुसे सागर बन जाएगा, अहंकारसे 'अहं' बन जाएगा ।

अखिल विश्व जब तेरे ज्ञानमें एक ही समय चकचका उठेगा, तब तुझे अपने वैभवका पता चलेगा, और एक-एक पदार्थको पकड़कर वैभवशाली बननेकी जो तेरी अतृप्त कामना है वह विलीन हो जाएगी । और बता तुझे चाहिये ही क्या । समग्रता प्राप्त करनेके लिए ही तो छटपटा रहा था न ? वह प्राप्त हो गयी, तू अपूर्णसे पूर्ण हो गया । यही तो तेरा अथवा तेरे ज्ञानका लोकालोक-व्यापी विभुत्व है । वह तुझे प्राप्त हुआ, तू महान बना । तेरे 'अहं' का विस्तार हुआ ।

अपनी संकीर्णताके कारण तूने इस समग्रमें परस्पर विभक्त जो अनेकों केन्द्र स्थापित कर दिये थे वे सब परस्परमें घुलकर एक हो गए । जिसप्रकार अपने-अपने कार्यमें रत अनेकानेक छोटे बड़े पुर्जोंसे समवेत यह कारखाना एक अखण्ड इकाई है, अथवा जिसप्रकार अनेकानेक झिलमिलाती तरंगोंसे समवेत यह महासागर एक अखण्ड इकाई है, उसी प्रकार परस्परमें मिल-मिलकर बिछुड़ने वाले और बिछुड़-बिछुड़कर मिलनेवाले अनेकानेक जड़-चेतन पदार्थोंसे समवेत यह समग्र विश्व तेरे लिए अब एक अखण्ड इकाई है, जिसने सबको अपने भीतर समा लिया है । इस समग्रके अतिरिक्त और रह ही क्या गया जिसकी कि तुझे कामना हो सकती है । केवल एक है और वह तुझे प्राप्त है, इसलिए तेरा ज्ञान तो 'केवल' है और उस ज्ञानका स्वामी तू 'केवली' है । यही तो है तेरा तथा तेरे ज्ञानका स्वभाव या परमार्थ रूप ।

स्वामित्व कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व विषयक सकल कामनाओंको तजकर तूने इस अखिल लोकालोकको जाना, इसलिए अब तू सर्व-गत है, सर्वज्ञ है।

“अप्पा कम्मविवज्जियउ केवलणाणेण जेण ।
लोयालोउ वि मूणहु, सव्वगु वुच्चइ तेण ॥”

अब तू अहंकार नहीं ‘अहं’ है, पूर्ण ‘अहं’ है, और तेरा ‘इदं’ भी अब ‘इदं’ नहीं है, विश्व है, पूर्ण ‘इदं’ है। ●

- ★ जिस क्रिया से चित्त निर्मल हो वह अकर्म और जिस क्रिया से चित्त कलुषित हो वह कर्म है, बन्धन है।
- ★ आत्मदर्शन होने पर कर्ता अकर्ता में, श्रोता अश्रोता में, वक्ता अवक्ता में बदल जाता है। कर्म हो और कर्म का लेप न हो यही मानवीय चेतना का विकास है।

७-भ्रान्ति दर्शन

१. समवशरण —

चित्तके स्वरूप का विस्तृत परिचय दे दिया गया है, और साथ-साथ अनन्त वीचिमालियोंसे युक्त उसके वैकल्पिक जगतका भी; द्विधा विभक्त अहंकी तथा इदंकी क्षुद्रताका भी और इन दोनोंकी पूर्णता, समग्रता, एकता तथा अखण्डताका भी। अब मैं आपको इस वैकल्पिक जगतके भीतर स्थित किसी ऐसी तात्त्विक व्यवस्थाका दर्शन कराना चाहता हूँ जिसका उल्लेख यद्यपि शास्त्रों में निबद्ध है तदपि जिसका स्वरूप अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्म है। शास्त्रमें अर्हन्त भगवान्के समवशरणका लम्बा चौड़ा विस्तार आपने पढ़ा है, मैं चैतन्य महाप्रभुके समवशरणके रूपमें यहाँ उसका तात्त्विक स्वरूप चित्रित करता हूँ। यद्यपि 'शान्ति पथ प्रदर्शन' के नये संस्करणमें इसे निबद्ध कर दिया गया है, परन्तु कर्म-विधानका प्रधान अंग होनेसे यहाँ उसका उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है।

आइये मेरे साथ, परन्तु आनेसे पहले अपनी इन चर्म चक्षुओंपर थोड़ी देरके लिए पट्टी बाँध लीजिये, अन्यथा मेरा सर्व कथन आपको अटपटासा लगेगा। केवल आभ्यन्तर दृष्टिसे ही इसका दर्शन किया जाना सम्भव है। यहाँ भी असंख्यात परिधियों वाले

पूर्वोक्त वैकल्पिक जगतकी भाँति एक दूसरेको घेरकर स्थित आठ भूमियों या परिधिमें हैं। प्रत्येक भीतर भीतर वाली भूमि अपनेसे बाहर बाहर वाली भूमि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा रहस्यमयी है। जितनी सूक्ष्म है उतना ही अधिक विस्तार अपने गर्भ में लिए हुए है। इन सबके भीतर मध्यमें एक कमलासनपर मेरे उपास्य चेतन महाप्रभु विराजित हैं। कमलासनपर स्थित होते हुए भी कमलपर पड़े जल बिन्दुकी भाँति उसको स्पर्श न करके, वे उससे चार अंगुल ऊपर अधर आकाश में स्थित हैं। यह आध्यात्मिक जगतकी अन्त-स्तम गुहामें स्थित वह स्थान है, जहाँ कि साधनाकी चार वीथियों-का या चार मार्गोंका संगम होता है—श्रद्धाप्रधान भक्तिमार्गका, विवेकप्रधान ज्ञानमार्गका, चारित्रप्रधान कर्ममार्गका और तपःप्रधान सन्यास मार्गका। इसे मैं अपनी भाषामें हृदय कहता हूँ जिसका स्वरूपचित्रण आगे पृथक् अधिकारमें किया जाने वाला है।

आओ मेरे साथ मैं तुम्हें उस चैतन्य महाप्रभुके दर्शन कराऊँ। परन्तु सावधान, वहाँ तक पहुँचना सरल नहीं है, आठों भूमियोंका अतिक्रम करना होगा। कहीं भी अटके तो पत्थरके बनकर रह जाओगे। ये आठों भूमियाँ वास्तवमें वह चालनी या फिल्टर है जिसमेंसे सारा कूड़ा कचरा छन जाता है। रह जाता है केवल वह जिसकी प्रज्ञा किसी भी भूमिमें भ्रान्त नहीं हो पाती, इधर-उधर देखे बिना जो इन चारोंमेंसे किसी भी एक वीथिके मार्गसे बराबर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाता है। अनेकों प्रवेश करते हैं चैतन्य महाप्रभुके इस समवशरण में, किन्तु कोई बिरला महाभाग ही अन्तिम भूमिमें पहुँचकर उनकी अमृतमयी दिव्य वाणीका पान कर पाता है। कोई पहली भूमिमें अटक जाता है और कोई दूसरी तीसरी आदिमें। चैतन्य महाप्रभुके तात्त्विक समवशरणकी ये आठ भूमियाँ हैं—इन्द्रियभूमि, प्राणभूमि, मनोभूमि, बुद्धिभूमि, चित्तभूमि, वासना-भूमि, अहंकार-भूमि और हृदय-भूमि।

२. घ्राठ भूमियें—

अर्हन्त भगवान् के समवशरणकी प्रथम भूमिका नाम चैत्यप्रासाद भूमि है। उसके स्थानपर यहां इन्द्रियभूमि है। इसके अन्तर्गत दो विभाग हैं—ज्ञान विभाग तथा कर्म विभाग। ज्ञान विभागका काम जानना है और कर्म विभागका काम भागना दौड़ना तथा करना है। ज्ञान विभागके अन्तर्गत दो करण या साधन हैं—अन्तष्करण तथा बहिर्करण। मन बुद्धि आदि अन्तष्करणोंका नामोल्लेख चित्त वाले अधिकारमें किया जा चुका है। यहां बहिर्करण प्रधान है। इसके अन्तर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियें हैं—त्वक्, रसना, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र। कर्म-करणके अन्तर्गत भी इसी प्रकार पांच इन्द्रियें हैं—हाथ, पांव, वाक् या जिह्वा, गुदा तथा उपस्थ। इनका विशेष स्वरूप आगे बताया जानेवाला है, यहां केवल इतना समझना कि दोनों प्रकारकी इन इन्द्रियोंके पोषणमें संलग्न सकल संसारी जीव इस भूमिमें अटके हुए हैं।

आत्म-कल्याणकी भावनासे जो मुमुक्षु साधनाके क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं वे भी पूर्वसंस्कारके कारण इसी भूमिमें अटके रहते हैं। आंखोंसे भगवत् प्रतिमाके दर्शन करके कानोंसे शास्त्रादि सुनकर, हाथोंसे भगवत्प्रतिमाका अभिषेक तथा पूजन करके, वाक् या जिह्वासे भगवद्स्तोत्रोंका पाठ करके और पांवसे तीर्थाटन आदि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। यद्यपि उपर्युक्त संसारी जनोंकी अपेक्षा ये कुछ आगे हैं, परन्तु इस भूमिका अतिक्रम नहीं कर पाए हैं, अर्थात् इन्द्रियोंकी पृष्ठभूमि में स्थित उस चेतना-शक्तिका दर्शन नहीं कर पाये हैं; अथवा उसका दर्शन करनेका प्रयत्न नहीं करते हैं, जिसकी ज्योतिसे ज्ञानेन्द्रिय ज्योतिष्मती हैं और जिसकी चेष्टासे कर्मेन्द्रियें कर्मशील हैं।

अर्हन्त भगवान्के समवशरण की द्वितीय भूमिका नाम है खातिका भूमि। उसके स्थानपर यहां प्राणभूमि है। इस शरीरमें

गर्मी क्रान्ति तथा स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली श्वासवायु इसका स्वरूप है। इन्द्रियोंके पीछे स्थित चेतना शक्तिको स्पर्श किये बिना ही जो योग साधनामें लग जाते हैं ऐसे योगी इस भूमिमें अटके हैं। वे सब हठयोगकी साधना द्वारा प्राणरोध करके अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं। योगके द्वारा प्राप्त कुछ विचित्र शक्तियें या ऋद्धियें उनके अहंकारको पुष्ट कर देती हैं, और वे आगे बढ़नेसे विरत हो जाते हैं।

समवशरणकी 'लताभूमि' के स्थानपर यहां तृतीय भूमि है मनीभूमि। इन्द्रियोंके मार्गसे प्राप्त विषयोंका मनन करते रहना इसका स्वरूप है। ऐन्द्रिय विषयोंके साथ-साथ जो साधक प्राणायामका भी त्याग करके प्रथम तथा द्वितीय भूमिका अतिक्रम करनेकी कल्पना करते हैं वे इस भूमिमें अटक जाते हैं। गुरुके मुखसे सुनकर अथवा शास्त्रोंमें पढ़कर मनन चिन्तन करते रहनेमें ही अथवा चर्चा करते रहनेमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और अपनी साधनाको पूरी मानकर उक्त ज्योतिका स्पर्श करनेके प्रति विरत हो जाते हैं।

अर्हन्त भगवान्के समवशरणकी चतुर्थ भूमि है 'उपवनभूमि'। इसके स्थानपर यहां बुद्धिभूमि है। मननपूर्वक निर्णय कर लेना इसका स्वरूप है। तर्क-वितर्क द्वारा मनन करनेका त्याग करके जो तृतीय भूमिका अतिक्रम करनेकी कल्पना करते हैं वे यहां आकर अटक जाते हैं। शास्त्रीय विषयोंका निर्णय करके अपनेको सर्वज्ञ मान बैठते हैं। अन्धोंमें काना राजाकी भांति जगतके अन्ध प्राणियोंके मध्य महन्तताईको प्राप्त होकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। ज्ञानाभिमानसे उनका अहंकार इतना बलिष्ठ हो जाता है कि उन्हें अपनेसे अतिरिक्त जगतमें कुछ दिखाई ही नहीं देता। सबका तिरस्कार तथा उपहास करना ही उनका धर्म बन जाता है, जिसका स्वयं उसको भान नहीं हो पाता।

ध्वज भूमिके स्थानपर यहां पंचम भूमि है 'चित्त', जिसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। कदाचित् ज्ञानाभिमान वाली चतुर्थ भूमिसे बाहर निकल आये तो यहां आकर अटक जाता है, वायुमें लहलहाती चंचल ध्वजाकी भांति भीतर ही भीतर इस लोक विषयक तथा परलोक विषयक विकल्पजाल बुनता हुआ चिन्तामें डूब जाता है। वैकल्पिक जगत बसाता है और मिटाता है। कल्पना ही कल्पनामें मुक्त होनेके स्वप्न देखने लगता है।

समवशरणकी षष्ठम् भूमिका नाम है 'कल्पभूमि'। चित्तगत उपर्युक्त विकल्पोंका घनीभूत होकर वासनाका रूप धारण कर लेना इसका स्वरूप है। इसीलिये यहाँ उसे वासना भूमि कहा गया है। यहाँ पहुँचनेपर व्यक्तिको यह पता चल जाता है कि मेरा चित्त वासनाओंमें जकड़ा हुआ है, परन्तु ये वासनायें क्या हैं, किस प्रकार पैदा होती हैं और किस प्रकार इनके बन्धनको तोड़ा जा सकता है, इस प्रकारके कर्म-रहस्यका ज्ञान न होनेके कारण वह बिना सोचे समझे केवल अन्य साधकोंकी नक़ल करके कठोरसे कठोर तपश्चरण करने लगता है। परन्तु अज्ञान-जन्य होनेके कारण उसका वह सब पुरुषार्थ व्यर्थ होकर रह जाता है।

सप्तम भूमिका नाम यहाँ है अहंकार भूमि, जिसका स्वरूप-चित्रण पहले किया जा चुका है। अहम् इदंके रूपमें द्विधा विभक्त ज्ञानके सर्व-व्यापक पारमार्थिक स्वरूपका, शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि तथा चित्तकी परिधियोंमें बद्ध होकर, संकीर्ण हो जाना ही उसका लक्षण है। अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्वको पूर्ण मानकर समग्रको छोड़ देना अथवा समग्रमें प्वायंट लगाकर जाननेकी विधिको अपना लेना ही इसका इस भूमिमें अटकना है। हृदयकी अष्टम भूमिमें प्रवेश किये बिना इसका अतिक्रम सम्भव नहीं।

अष्टम भूमिका नाम है हृदय भूमि यही भगवान्‌का श्रीमण्डप है, जिसमें कमलासनपर चेतन महाप्रभु विराजमान हैं। प्रेम, विनय, भक्ति, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य, संवेग, वैराग्य आदिके रूपमें भावलोक इसका स्वरूप है जो धीरे-धीरे विकासको प्राप्त होता हुआ, प्रेमसे मैत्री, मैत्रीसे भक्ति और भक्तिसे समताकी उत्तरोत्तर उन्नतभूमियोंमें प्रवेश करता हुआ समग्रको हस्तगत करनेके लिये समर्थ हो जाता है। यहाँ अहंका क्षुद्र व्यक्तित्व चेतन-महाप्रभुके महान् व्यक्तित्वमें विलीन होकर महान् हो जाता है, पूर्ण हो जाता है, विभु हो जाता है, सर्वगत तथा सर्वव्यापक हो जाता है।

हृदय-भूमिका तथा समताका विशद विवेचन आगे किया जाने-वाला है, यहाँ केवल इतना ही समझना कि इस अष्टम भूमिमें प्रवेश करनेसे पहले सभी साधक कहीं न कहीं अटके हुए हैं। सभी दिग्भ्रान्त हैं। यथा—

३. भ्रान्ति —

चिज्ज्योतिका अनुभव करके इन्द्रियोंके व्यापारसे उपेक्षित हो जाना अर्थात् उनके प्रति समता धारण कर लेना इन्द्रिय-भूमिका अतिक्रम है। इसके स्थान पर ऐन्द्रिय विषयोंका त्याग करके इस भूमिका अतिक्रम मानना भ्रान्ति है। क्योंकि जैसा कि आगे बताया जायेगा, समता तथा शमता ही वास्तवमें चारित्र्य, धर्म अथवा स्वभाव है, और वह विधि निषेधसे अथवा ग्रहण त्यागसे अतीत है। इसी प्रकार शरीरके भीतर प्राणशक्ति किस प्रकार काम कर रही है, किस प्रकार वह एक एक अंग तथा उपांगको स्फुरित तथा चालित करती है, इस प्रकार प्राणके समस्त विधानका प्रत्यक्ष करके प्राणायाम आदिकी उपेक्षा कर देना द्वितीय भूमिका अतिक्रम है। इसके स्थानपर प्राणायाम द्वारा प्राणका रोध

करनेको अथवा प्राणायामके त्याग मात्रको इस भूमिका अतिक्रम मानना भ्रान्ति है ।

चित्तका काम भूत भविष्यत्की चिन्ता करना है । समयका ग्रहण हो जानेपर भूत भविष्यत् नामकी कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती । उनकी चिन्तासे मुक्त होकर केवल वर्तमानमें शान्त रहना चित्त-भूमिका अतिक्रम है । इसे ही शास्त्रमें शमता कहा है । इसके स्थानपर देव गुरु शास्त्रका अथवा शास्त्रीय विषयोंका ध्यान करके चित्त-भूमिका अतिक्रम हुआ मान लेना भ्रान्ति है ।

किस प्रकार हमारी मानसिक वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियोंसे संस्कारोंका निर्माण होता है, किस प्रकार उनकी प्रेरणासे पुनः हम कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, और किस प्रकार उन्हें तोड़ा अथवा बदला जा सकता है, करने धरनेका संकल्प तथा कर्मसे प्राप्त होनेवाले फलकी कामना ही बन्धका हेतु है, काम नहीं । कर्मसिद्धान्तका यह सारा रहस्य आगे विस्तारके साथ बताया जानेवाला है । उस सकल विधानका अपने जीवनमें साक्षात्कार करके कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वके सकल संकल्पोंसे और सकल कामनाओंसे उपरत हो जाना वासना नामक सप्तम भूमिका अतिक्रम है । कर्तृत्व भोक्तृत्वके संकल्पको तथा कामनाको न छोड़कर उनके विषयोंका त्याग करना और अपनेको वासनासे उपरत हुआ मान लेना भ्रान्ति है । कामना-विरतिके स्थानपर कर्म-विरतिको वैराग्य मान लेना भ्रान्ति है ।

देहाध्यासके कारण तात्त्विक 'अहं'की संकीर्ण प्रतीति अहंकार है । इसीके कारण जगतके पदार्थोंमें मैं-मेरा, तू-तेरा आदि रूप अथवा इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, मित्र-शत्रु आदि रूप विविध द्वन्द्व सदा चित्तको घेरे रहते हैं । अपनेको तथा अन्य सबको तात्त्विक दृष्टिसे देखकर इन द्वन्द्वोंसे उपरत हो जाना

अहंकार भूमिका अतिक्रम है। ऐसा होनेपर जिस प्रकार समग्रका ग्रहण स्वयं हो जाता है, उसी प्रकार पूर्णाहंताका संवेदन भी साथ-साथ स्वयं हो जाता है। इसके स्थानपर 'मैं सिद्धोंके समान निराकार आत्माका दर्शन कर रहा हूँ', इत्याकारक काल्पनिक आत्मदर्शनको स्वसंवेदन मान लेना भ्रान्ति है। 'अहमिदं जानामि' के रूपमें बाहर तथा भीतर जो कुछ भी दृष्ट है वह सब अनात्मा है, 'अहं' से विपरीत है। 'इदं' के रूपमें गृहीत आत्माको अहं या अहंका अनुभव मानना भ्रान्ति है।

जैसा कि आगे बताया जानेवाला है, प्रेम, विनय, भक्ति, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, वैराग्य, समता आदि रूप भाव-लोक ही हृदय नामक अष्टम-भूमिका स्वरूप है। जिस प्रकार का प्रेम माता अपने बच्चेके साथकर सकती है वैसा किसी दूसरे बच्चेके साथ नहीं कर सकती। यदि करती है तो वह केवल उसका अभिनय होता है प्रेम नहीं। इसी प्रकार केवल मस्तक झुका देनेको विनय मान लेना, भगवान्की द्रव्यपूजा करके भक्ति मान लेना, हाथ पाँव दबाकर वैयावृत्य मान लेना, किसी दुःखीको दो पैसे देकर कृष्ण मान लेना भ्रान्ति है। ये सब प्रेम, विनय, भक्ति आदिके अभिनय हैं, प्रेम विनय भक्ति आदि नहीं। हृदयसे उद्गत होनेपर ही वे सत्य हैं। हृदय-विहीन अभिनयको प्रेम भक्ति आदि मानना भ्रान्ति है। ●

१. महातत्त्व

‘हृदय’ शब्द यद्यपि आ-बाल-गोपाल प्रसिद्ध है, परन्तु क्योंकि शास्त्रमें इसका कथन प्रायः नगण्य तुल्य है, इसलिये बहुत सम्भव है कि इसे सुनकर आप असमंजसमें पड़ जायें, परन्तु घबरायें नहीं, तनिक सुनें और निर्णय करें। जो वस्तु तुम्हारे नित्य अनुभवमें आ रही है, बच्चे बच्चेके अनुभवमें आ रही है, उससे केवल इसलिये इन्कार कर देना कि उसका उल्लेख शास्त्रमें नहीं है, यह कोई न्याय नहीं है। भले ही इस शब्दके द्वारा वहां इस तत्त्वका उल्लेख उपलब्ध नहीं है, परन्तु ‘भाव’ शब्दके द्वारा अवश्य उपलब्ध है। अतः आओ और धैर्यपूर्वक इसका अध्ययन करो।

इस शरीरके भीतर हृदय-नामका एक यन्त्र माना गया है। जिसका काम रक्तका शोधन करके धौंकनीकी भांति उसे नस-नस में पहुँचाना है। परन्तु जिस प्रकार तात्त्विक क्षेत्रमें मन बुद्धि आदि शरीरके भीतर स्थित अंगों या यन्त्रों के नाम न होकर किन्हीं आभ्यन्तर तत्त्वोंके नाम हैं, इसी प्रकार मेरे द्वारा उल्लिखित हृदय भी वह यन्त्र न होकर एक आभ्यन्तर तत्त्व है, जिसका ग्रहण केवल

संवेदनाके द्वारा होता है। प्रेम, दर्द, टीस, सहानुभूति, करुणा आदि की सर्वजन-प्रसिद्ध प्रतीतियों ही यहां संवेदना शब्दका वाच्य है।

२. प्रेम

तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर हम हृदयको प्रेमके द्वारा लक्षित कर सकते हैं। यद्यपि लोकमें प्रेम शब्दका अर्थ अत्यन्त संकीर्ण है, परन्तु यहां तत्त्वके रूपमें व्यवस्थित किया गया होनेके कारण इसका अर्थ व्यापक है। इसका रूप ज्ञानात्मक न होकर भावात्मक है, जिसका सैद्धान्तिक विवेचन हम माताके प्रेमको उदाहरण मानकर सरलताके साथ कर सकते हैं। माताको अपने शिशुके साथ प्रेम होता है, परन्तु वह उसे शब्दोंके द्वारा बता नहीं सकती। जैसा प्रेम उसे अपने बच्चेके साथ होता है वैसा वह दूसरे बच्चेके साथ कर भी नहीं सकती। यदि ऐसा करनेके लिए उसे कहा जाय तो वह उसका क्या उत्तर देगी। यही न कहेगी कि आप कहते हैं तो मैं इस बच्चेको गोदमें बैठाकर प्रेमका अभिनय कर सकती हूँ परन्तु प्रेम करना, यह मेरे वशकी बात नहीं है। प्रेम होता है किया नहीं जाता। जिस प्रकार प्रयत्न करके आप हाथ पांव के द्वारा काम कर सकते हैं, जिस प्रकार प्रयत्न करके आप इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको जान सकते हैं, जिस प्रकार प्रयत्न करके आप मन तथा बुद्धिसे मनन चिन्तन तथा निर्णय कर सकते हैं, उस प्रकार प्रयत्न करके आप हृदयसे प्रेम कर नहीं सकते। 'प्रेम होता है किया नहीं जाता' यह इस विषयमें सबसे बड़ा सिद्धान्त है, जिसे आपको याद रखना चाहिए।

३. आत्मसात् तन्मयता

इस विषयमें दूसरी बात है तन्मयता या आत्मसात्-करण। माता अपने शिशुको वक्षसे लगाकर सब कुछ भूल जाती है। उसके साथ तन्मय हो जाती है, मानो उसे अपनेमें समा लेना

चाहती है। 'मैं' इसे प्यार कर रही हूँ' ऐसी अहं इदं रूप द्वैतकी प्रतीति उस समय उसे नहीं होती। मैं तथा बच्चा ऐसा द्वैत ही नहीं। 'मैं' ही बच्चा है और बच्चा ही 'मैं' है। बाहर वालोंको दो दीख रहे हैं, परन्तु माताके भीतर दो नहीं हैं। इसीका नाम है आत्मसात्-करण अथवा तन्मयता या तादात्म्य।

किसी पदार्थको भोगते समय जैसे 'मैं' इसका स्वाद चख रहा हूँ' ऐसा कोई विकल्प नहीं रहता, केवल रसास्वादन मात्र रहता है, अथवा जिस प्रकार अपने शिशुको वक्षसे लगानेपर माताको 'मैं' इसे प्यार कर रही हूँ' ऐसा कोई विकल्प नहीं होता, केवल तन्मयता होती है, उसी प्रकार टीस दर्द सहानुभूति कष्टना आदि समस्त संवेदनाओंमें जानना। इसपर से यह सिद्धान्त निर्धारित करना कि हृदयगत भावोंमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। जहां द्वैत है वहां ज्ञान है, वही चित्त है, और जहां अद्वैत है, तन्मयता है, वहां हृदय है। केवल रसास्वादन ही इसका स्वरूप है, भले ही वह रस कैसा भी क्यों न हो।

४. तत्त्वोन्मुखता

निःसन्देह विषयोन्मुख होनेके कारण लौकिक क्षेत्रमें हृदयका स्वरूप अत्यन्त विकृत तथा तमोग्रस्त है, परन्तु तत्त्वोन्मुख हो जानेपर वही अत्यन्त सात्विक तथा ज्योतिपुंज है। विषयोन्मुख होनेपर जो रसास्वादन निम्नगामी है वही तत्त्वोन्मुख होनेपर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। विषयोन्मुख होनेपर जिसे हम रसास्वादन कहते हैं, तत्त्वोन्मुख होनेपर उसे ही हम स्वसंवेदन कहते हैं। विषयोन्मुख होनेपर जिसे हम आसक्ति कहते हैं तत्त्वोन्मुख होनेपर उसे ही हम समता कहते हैं। विषयोसे विरत हो जानेके कारण इसे हम विरति, विरक्ति अथवा वंराग्य कहते हैं और संसार से भीत हो जानेके कारण इसे हम संवेग कहते हैं।

इसी प्रकार किसी भी एक विषयके प्रति तन्मय होनेके कारण विषयोन्मुखी जो हृदय अत्यन्त संकीर्ण तथा क्षुद्र है वही तत्त्वोन्मुखी होनेपर समग्रको आत्मसात् करके अत्यन्त व्यापक, महान् तथा विभु बन जाता है। देहाध्यस्त अपने संकीर्ण 'अहं' के प्रति तन्मय होनेपर हृदयका जो भाव स्वार्थ कहलाता है वही समस्तको आत्मसात् कर लेनेपर समता कहलाता है, जिसका कथन आगे पृथक् अधिकारमें किया जानेवाला है, संकीर्ण स्वार्थको विश्वव्यापी समताके रूपमें रूपान्तरित होनेके लिए जिन श्रेणियों अथवा सोपानोंका अतिक्रम करना पड़ता है, उनका ही शास्त्रमें मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य आदि नामोंके द्वारा उल्लेख किया गया है। आइये तनिक इनका संक्षिप्तसा दर्शन कर लें।

देहाध्यस्त संकीर्ण व्यक्तित्व जब विवाहित होकर एककी बजाय दो में अनुगत हो जाता है तब उसका पूर्वोक्त स्वार्थ प्रेम नाम पाता है। दोमें अनुगत हुआ उसका यह व्यक्तित्व जब सन्तान हो जानेपर पांचमें व्याप जाता है तब उसका प्रेम वात्सल्यका रूप धारण कर लेता है, अथवा प्रेमकी अपेक्षा वात्सल्य प्रधान हो जाता है। पांच या दस व्यक्तियोंमें निबद्ध उसका यह कौटुम्बिक व्यक्तित्व जब सामाजिक क्षेत्रमें उतरता है तो विशाल बन जाता है। तब उसका वात्सल्य मैत्रीके रूपमें रूपान्तरित हो जाता है।

यह मैत्री ही जब समाजके अन्तर्गत किन्हीं धार्मिक जनों अथवा गुणी जनोंको प्राप्त करती है तो प्रमोद अथवा गुणानुमोदना बन जाती है। माता-पिता आदि वयोवृद्ध जनोंके प्राप्त होनेपर यह श्रद्धा तथा विनयका रूप धारण कर लेती है। देव शास्त्र अथवा गुरुकी शरण प्राप्त हो जानेपर इस श्रद्धा तथा विनयके साथ भक्ति भी आ मिलती है। यही मैत्री जब समाजमें किन्हीं दुःखित भुल्लिखित अथवा दीन-हीन जनोंको प्राप्त करती है तब करुणाका रूप धारण

कर लेती है, और दया दान सेवा आदिके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समान स्तरके व्यक्तियोंके प्रति किया गया दान समदत्ति कहलाता है, दुःखी जनोंके प्रति दयादत्ति, गुरुजनोंके प्रति पात्रदत्ति अथवा भक्तिदत्ति और अपनी सन्तानके प्रति होनेपर वह सर्वदत्ति कहा जाता है। अधार्मिक, पापी अथवा विपरीत बुद्धिवाले व्यक्तियोंके प्राप्त होनेपर यह मैत्री ही उपेक्षा अथवा माध्यस्थता बन जाती है। इस प्रकार हृदय-जगतमें सर्वत्र जानना। ●

★ भगवान महावीर ने कहा शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है सरल होता है। क्राईस्टकी भाषा में बच्चे जैसा सरल। व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर, बिना कुछ छिपाए अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे यही आलोचना है।

९-भावना

१. प्रधानता

हृदयका लोक भाव-लोक कहलाता है। दर्द, टीस, सहानुभूति, प्रेम, रसास्वादन, संवेदन, आसक्ति, विरक्ति, राग, वैराग्य, संवेग, मैत्री, प्रमोद, विनय, भक्ति, करुणा, दया, माध्यस्थ्य, उपेक्षा आदि जितनी कुछ भी बातें ऊपर बताईं गयी हैं वे सब भाव कहलाते हैं। 'भाव सहित वन्दे जो कोई' इस उक्तिमें प्रयुक्त 'भाव' शब्द अथवा 'भावना भव नाशिनी' इस उक्तिमें प्रयुक्त 'भाव' शब्द वास्तवमें हृदयकी ओर संकेत करते हैं, ज्ञान अथवा चित्तकी ओर नहीं। इसीकी शास्त्रोंमें परिणाम-विशुद्धि अथवा हृदयशुद्धि कहा गया है। पंच लब्धियोंमें इसका उल्लेख विशुद्धि-लब्धिके नामसे किया गया है और सोलह कारण भावनाओंमें दर्शन-विशुद्धिके नामसे। जीवन-कल्याणके मार्गमें इस तत्त्वकी सर्वोपरि प्रधानता है। भाव अथवा हृदयसे शून्य समस्त त्याग, तप, शास्त्राध्ययन तथा प्रवचन लेखन आदि सब शुष्क तथा निष्प्राण हैं। शास्त्रोंमें इन सबको बाल-तप, अज्ञान आदि कहकर व्यर्थ बताया गया है।

२. अनुप्रेक्षा और भावनामें अन्तर

यद्यपि व्यवहार-भूमिपर अनुप्रेक्षाको ही भावना कह दिया जाता है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर इन दोनोंमें आकाश पातालका अन्तर है। किसी भी एक विषयका पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है जो ज्ञानकी पर्याय है, चित्तका कार्य है। परन्तु भावनाका वास हृदय-लोकमें होता है, ज्ञान अथवा चित्तमें नहीं। अनुप्रेक्षामें अहं इदंका द्वैत होता है जब कि भाव केवल संवेदन रूप होता है। अनुप्रेक्षाका विषय अपनेसे बाहर दिखाई देता है परन्तु भावना स्वयं अन्दरमें प्रतीत होती है। अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षायें हैं भावना नहीं, जबकि मैत्री प्रमोद कारुण्य आदि भावनायें हैं। अनुप्रेक्षा वैराग्य भावकी साधक है, स्वयं-वैराग्य नहीं। हृदयमें वैराग्य भाव उदित हो जानेपर अनुप्रेक्षा, चिन्तन अथवा चित्तका अवलम्बन छूट जाता है परन्तु हृदयका अवलम्बन नहीं छूटता है। भले ही अनुप्रेक्षा परम्परा रूपसे भवनाशिनी हो, परन्तु भावना जिस प्रकार साक्षात् रूपसे भवनाशिनी है उस प्रकारसे अनुप्रेक्षा नहीं है। अनुप्रेक्षाओंसे तीर्थंकरत्वका बन्ध नहीं होता है, भावनाओंसे होता है।

अनुप्रेक्षा अथवा चिन्तन किया जा सकता है परन्तु भाव होता है किया नहीं जाता। भाव शब्दकी व्युत्पत्ति भी 'होना' अर्थमें प्रयुक्त 'भू' भव' धातुसे हुई है, करना अर्थमें प्रयुक्त 'कृ' धातुसे नहीं। भले ही 'भावना भाओ'; 'सोलह कारण भावनायें भानेसे तीर्थंकरत्वका बन्ध होता है' इत्यादि रूपसे भावनाके क्षेत्रमें कर्तृत्वका उल्लेख होता है परन्तु उपदेश तथा प्रेरणा होनेसे वह उपचार है। इसी प्रकार सोलह कारण भावनाओंके लक्षण भी क्रियाके रूपमें किये गये हैं परन्तु वास्तवमें वे क्रिया नहीं भाव हैं।

३. भावनाका स्वरूप

भावना का अर्थ गुणानुभूति अथवा गुणाभिव्यक्ति नहीं है, अपितु-गुणप्राप्तिकी हार्दिक अभिलाषा है, गुण-प्राप्तिके लिये हृदयमें उदित छटपटाहट है। सोलह गुणोंकी उपलब्धि साक्षात् तीर्थकरत्वका कारण नहीं है, उसका कारण उन गुणोंको प्राप्त करनेके लिए हार्दिक अभिलाषा है। 'ऐसा अवसर कब आयेगा जबकि मैं ऐसा बन जाऊँगा', 'कितना अच्छा हो कि मैं ऐसा बन जाऊँ', 'हाय हाय मैं कितना अधम हूँ, क्या मुझ जैसा पातकी भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त कर सकता है', 'हे गुरुदेव ! मैं शरण में आया हूँ, मुझपर दया करो' इत्यादि जितनी कुछ भी प्रार्थना-पूर्ण अभिलाषायें या जिज्ञासायें भीतरमें उदित होती हैं अथवा जो अपने दोषोंके प्रति निन्दन गर्हण अथा ग्लानिकी प्रतीति होती है, पश्चाताप आदिके रूपमें उदित होती प्रतीत होती है, अथवा शरणापत्तिके रूपमें जो उदित होती प्रतीत होती है वे सब भावनायें हैं। व्रतोंकी जो पाँच-पाँच भावनायें कही गयी हैं उन सबका भी यही रूप है। इन सबका स्थान हृदय है, मन बुद्धि चित्त अथवा अहंकार नहीं।

इस प्रकारसे भावना भानेमें यद्यपि कुछ कर्तृत्वकी प्रतीति अवश्य होती है परन्तु अभिलाष-प्रधान होनेके कारण वह यहाँ गौण है। जितना कुछ कर्तृत्व है वह अनुप्रेक्षाका अंश है और जितना कुछ अभिलाषाका रूप है वह भावना है। इसी प्रकार अनुप्रेक्षामें भी समझना। वहाँ यद्यपि चिन्तवन प्रधान है तदपि उसके साथ संवेग तथा वैराग्यका भाव भी अवश्य रहता है। जगतकी अनित्यता आदिका विचार करते समय संसारके प्रति भयभीत हो जाना संवेग कहलाता है। इसी प्रकार शरीरकी अशुचितताका चिन्तवन करते हुये तथा भीतरके कार्मण शरीरके स्वभावका

चिन्तवन करते हुये शरीर तथा कर्मोंके प्रति वैराग्य उदित हो जाता है। जिस प्रकार हार्दिक अभिलाषाके अभावमें भाई गयी भावना केवल शाब्दिक पाठ है, उसी प्रकार संवेग तथा वैराग्यकी स्फूर्तिके अभावमें अनित्य, अशरण आदिका चिन्तवन केवल शाब्दिक पाठ है। इसलिये भावना भानेकी दृष्टिसे देखनेपर जिस प्रकार हम भावनाको अनुप्रेक्षा कह सकते हैं इसी प्रकार संवेग तथा वैराग्य भावकी स्फूर्तिकी दृष्टिसे देखनेपर अनुप्रेक्षाको हम भावना कह सकते हैं।

कृत्रिम रूपसे भावना भाना अथवा उसका पाठ पढ़ना केवल भावना तथा अनुप्रेक्षाका अभिनय है। यद्यपि ईमानदारीसे आत्मकल्याणके लिये प्रार्थनापूर्वक भाई गयी वे आगे जाकर वास्तविक बन सकती हैं परन्तु वर्तमानमें वे वास्तविक नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि इन्हें भाना नहीं चाहिये। यहाँ केवल सैद्धान्तिक सत्य असत्यका निर्णय किया जा रहा है, कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका नहीं। जैसा कि आगे बताया जानेवाला है, साधनाके क्षेत्रमें प्रत्येक प्रवृत्ति पहले पहले कृत्रिम होती है, पीछे धीरे धीरे वह स्वभावमें प्रवेश करती जाती है। स्वभाव बन जानेपर वह सहज हो जाती है, तब उसे प्रवृत्ति न कहकर धर्म कहा जाता है, स्वभाव कहा जाता है, और वही चारित्र्य शब्दका परमार्थ वाच्य होता है। अतः भावना अवश्य भाओ परन्तु अन्य प्रवृत्तियोंकी भाँति इसे अपना स्वभाव बनानेका प्रयत्न करो, केवल शाब्दिक पाठमें अटककर सन्तुष्ट न हो जाओ।

१०. विनय

हृदयगत भावलोकके लौकिक क्षेत्रमें जो स्थान वैषयिक प्रेमको प्राप्त है वही स्थान उसके पारमार्थिक क्षेत्रमें विनयको प्राप्त है। विनय वास्तवमें प्रेमका रूपान्तरण है, जिसका स्थान हृदय है बुद्धि नहीं। बौद्धिक विकास हो जानेपर भी हृदयके द्वार खुल ही जाएँ यह आवश्यक नहीं। यही कारण है कि बुद्धिके द्वारा तत्त्वोंको समझ लेने वाले और अपनी उस बौद्धिक समझमें ही तत्त्वज्ञताकी भ्रान्ति करनेवाले व्यक्तिका हृदय मुंदा रहता है। इस योग्यताके प्रगट होनेसे पहले शिष्टाचारके नाते जो थोड़ी बहुत विनय या नम्रता उसके पास थी, उसका भी लोप हो जाता है, और उसका स्थान ज्ञानाभिमान ले लेता है।

१. सम्यक्त्वके अंग

अभिमानी व्यक्ति स्वयं अपनेको बड़ा समझता है परन्तु परमार्थतः वह छोटा हो जाता है। विनयशील व्यक्तिको अपने दोष तथा दूसरोंके गुण देखते हैं, जिसके कारण उसे अपने दोषोंके प्रति ग्लानि और दूसरेके गुणोंके प्रति स्पर्धा होती है। फलस्वरूप उसमें दोषोंकी हानि और गुणोंकी वृद्धि होती है। तत्त्वदृष्टि-सम्पन्न व्यक्तिमें यह स्वाभाविक है, इसीलिये उपगहन तथा उपबृंहण

सम्यग्दर्शनका अंग माना गया है। इसके विपरीत ज्ञानाभिमानीको अपने गुण तथा दूसरोंके दोष दीखते हैं, जिसके कारण उसमें गुणोंकी हानि और दोषोंकी वृद्धि होती जाती है। इसलिये जिसमें विनय नहीं है, जिसका मस्तक किसीके भी सामने नहीं झुकता है, समझ लीजिए कि वह अभिमानी है तत्त्वज्ञ नहीं। तत्त्वज्ञमें आठ मद होने सम्भव नहीं।

इसी प्रकार निर्विचिकित्सा, वात्सल्य और स्थितिकरण ये जो तीन गुण तत्त्वज्ञके बताये गये हैं उनके विषयमें भी समझना, जो अभिमानीमें सम्भव नहीं। अपनेको बड़ा और दूसरेको छोटा न देखकर सबको तत्त्वदृष्टिसे समान देखना निर्विचिकित्सा है। गुणी-जनोंके प्रति प्रेम उमड़ना तथा उनकी सेवा करनेको जी करना वात्सल्य है। इस भावमें दोषी जनोंके दोष, दोष न दिखकर रोग दिखते हैं। जिस प्रकार रोगीके प्रति ग्लानि नहीं की जाती बल्कि सहानुभूति की जाती है, उसे घुत्कारा नहीं जाता बल्कि प्रेमपूर्वक पुचकारा जाता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञ व्यक्ति दोषी व्यक्तिके प्रति प्रेम तथा सहानुभूति करता है। यही उसका वात्सल्य है। वह उसकी सेवा करता है और उसकी दोष-निवृत्तिके लिये अनेकों उपाय करता है। यही उसका स्थितिकरण गुण है। अभिमानीमें ये सम्भव नहीं।

सम्यग्दर्शनके ये चार अंग विनयके रूपान्तरण हैं। शेष चार अंग 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' की समतापूर्ण भावनासे उद्गत होते हैं, जिनका कथन आगे किया जानेवाला है। इस प्रकार ये आठों अंग वास्तवमें हृदयगत प्रेम तथा समताकी शाखायें हैं।

२. सर्वानुगति

अभिमानका अभाव होनेपर जो नम्रता प्रगट होती है वही विनय का स्वरूप है। यद्यपि इसका व्यावहारिक अर्थ गुरुजनोंके

प्रति मस्तक झुकाना तथा उनकी पादसेवा करना मात्र है, तदपि तास्विक दृष्टिसे देखनेपर यह जिसप्रकार सम्यक्त्वके अंगोंमें अनुगत है उसी प्रकार सोलह कारण भावनाओंमें, दश धर्मोंमें, छह आभ्यन्तर तपोंमें तथा अन्य भी सभी पारमार्थिक भावोंमें इसकी अनुगति देखी जा सकती है। यही कारण है कि आचार्योंने इसे एक महान तपके रूपमें ग्रहण किया है।

जिस प्रकार तपके प्रकरणमें इसका ग्रहण दूसरे नम्बरपर होता है, उसी प्रकार सोलह कारण भावनाओंमें विनयके नामसे और दस धर्मोंमें मार्दवके नामसे इसका ग्रहण दूसरे नम्बरपर होता है। एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है, जिसपर से कि इस गुणकी महत्ता स्पष्ट प्रतीतिमें आ जाती है। तत्त्वदृष्टि खुल जानेपर यद्यपि व्यक्ति सम्यग्दृष्टि कहलानेका अधिकारी हो जाता है, परन्तु इतने मात्रसे वह विशुद्ध-दृष्टिवाला नहीं कहलाता। परिणाम-विशुद्धिका सम्बन्ध न तो ज्ञानके साथ है और न श्रद्धा अथवा प्रतीतिके साथ है। उसका सम्बन्ध हृदयके साथ है, हृदय-शुद्धि ही परिणाम-विशुद्धि है। सम्यग्दर्शनकी पंच-लब्धियोंमें इसका स्थान भी द्वितीय नम्बरपर आता है। तत्त्वदृष्टि खुलनेके साथ-साथ यदि हृदयके कपाट भी खुल जायें, तो वह तत्त्व-दृष्टि दर्शन-विशुद्धि अर्थात् विशुद्ध तत्त्वदृष्टि कहलाती है। हृदयकी यह विशुद्धि ही वास्तवमें तत्त्वका स्पर्श कहलाता है जो कि सम्यग्दर्शनका अन्तिम लक्षण माना गया है।

“श्रद्धेति, प्रत्येति, रोचति, स्पर्शति यः स वै शुद्धदृष्टिः”।

शास्त्राध्ययनसे अथवा गुरुके उपदेशसे तत्त्वोंकी श्रद्धा होती है। यही श्रद्धा धीरे-धीरे जीवनमें प्रविष्ट होकर उन तत्त्वोंकी साक्षात् प्रतीति करने लगती है, जिसे समयसारमें ‘भूतार्थनाभिगता नव तत्त्वाः’ ऐसा कहा गया है—यही प्रतीति आगे चलनेपर अनात्म

तत्त्वोंको छोड़कर आत्मतत्त्वमें रस लेने लगती है। उस समय यह आत्मरुचि कही जाती है, परन्तु यही आत्मरुचि जब सबको अपनी ही भाँति तात्त्विक दृष्टिसे देखने लगती है तब तत्त्वस्पर्श कहलाती है। यही है हृदयके कपाट खुल जाना जिसे कि सोलहकारण भावनाओंमें दर्शन-विशुद्धि कहा गया है। यहाँ आनेपर व्यक्ति किसीको छोटा बड़ा नहीं देखता, क्योंकि तत्त्वालोकमें सब समान हैं।

विशुद्धिके प्राप्त हो जानेपर अभिमान गलित हो जाता है और उसका स्थान विनय ग्रहण कर लेता है। अन्य सब भावनायें वास्तवमें विनयका विस्तार है। दर्शनके क्षेत्रमें यह दर्शन-विशुद्धि कहलाती है, ज्ञानके क्षेत्रमें अभीष्ट ज्ञानोपयोग, चारित्रिके क्षेत्रमें निरतिचार शीलव्रत और त्याग व तपके क्षेत्रमें शक्तितस्त्याग तथा शक्तितस्तप कही जाती है। आचार शास्त्रमें इन्हें दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्र्याराधना और तपाराधना कहा गया है। इन गुणोंके प्रति बहुमान तथा विनय होना इनका लक्षण है। चतुर्विध आराधनाके प्रकट हो जानेपर चित्त समाहित, आश्वस्त तथा शान्त हो जाता है। वही साधु-समाधि है जो कि वास्तवमें एकाग्रचिन्ता निरोध लक्षणवाले ध्यानकी आराधना अथवा विनय है। इसी प्रकार आवश्यकपरिहाणि भी वास्तवमें साधुजनोके दैनिक आचरणके प्रति बहुमान तथा विनय ही है।

यहाँ तक गुणोंकी विनय हुई। इसके आगे गुणियोंकी विनयका कथन चलता है, जिसे अपनेसे भिन्न व्यक्तिके प्रति होनेके कारण उपचार-विनय कहा गया है। वास्तवमें यह भी उन व्यक्तियोंमें स्थित गुणोंके प्रति ही होती है व्यक्तिके प्रति नहीं, क्योंकि बिना गुणोंके केवल शरीरकी विनय कौन करता है? ज्ञानीजन, गुणीजन तथा गुरुजन इन तीनोंकी सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्ति कहलाता है, जो विनयकी ही स्थूल अभिव्यक्ति है। अर्हद्भक्ति, आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत अर्थात् उपाध्यायभक्ति, प्रवचन अर्थात् शास्त्रभक्ति,

इन चारोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्द विनयके ही किसी प्रभूत रूपके प्रति इंगित करता है ।

इस प्रकार सर्वांगीण विनयके द्वारा धर्मकी तथा गुणोंकी अभिवृद्धि हो जाना ही मार्गप्रभावना है, क्योंकि गुणोंसे ही जगत प्रभावित हाता है केवल कहनेसे अथवा क्रियाकाण्ड से नहीं ।

३. गुरु विनय

आत्मकल्याणके पारमार्थिक क्षेत्रमें गुरु-विनयका स्थान सर्वोपरि है । 'शास्त्राध्ययनके द्वारा स्वयं समझ लूँगा' अथवा 'स्थान-स्थानपर उपदेश हो रहें हैं, शिविर लग रहे हैं, कहीं भी जाकर सुन लूँगा अथवा सीख लूँगा, मुझे गुरुकी क्या आवश्यकता है, जिनके पास अपनी योग्यता नहीं वे ही गुरुकी खोज करें' इत्यादि प्रकारके भाव अहंकार तथा अभिमान स्वरूप होनेसे परमार्थ-घातक हैं । ऐसे व्यक्तिको शास्त्रका बौद्धिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु तत्त्वदृष्टि नहीं । वह केवल तत्त्वोंकी बात कर सकता है परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे अपनेको तथा समस्त विश्वको देख सके ऐसी योग्यता उसमें प्रगट नहीं हो सकती । 'आत्मा भिन्न शरीर भिन्न' इतना कहना मात्र तत्त्वदृष्टि नहीं है । 'बाह्य जगतमें तथा आभ्यन्तर जगतमें सर्वत्र एक तथा अखण्ड तात्त्विक व्यवस्था है । सब उसी व्यवस्थाके आधीन चले जा रहे हैं । न यहां कोई कुछ कर रहा है, न कोई कुछ भोग रहा है । एक अखिल प्रवाह है, चला जा रहा है और चलता रहेगा', इस प्रकारसे तत्त्वालोक में प्रवेश पाना गुरु-कृपाके बिना सम्भव नहीं ।

गुरुकी परीक्षा होनी भी सम्भव नहीं । क्योंकि गुरु-परीक्षाकी बात करनेवाला अभिमानी है । विनयशील परीक्षा करना नहीं जानता शरणापन्न होना जानता है, अपने व्यक्तित्व को समर्पण करना जानता है । अभिमानी को अपनेसे बड़ा अथवा गुणवान जब कोई दिखाई हो नहीं देता तो आप ही बताइए कि वह किसकी

परीक्षा करे ? वह किसीको गुरु स्वीकार ही कैसे करेगा ? जब गुरु ही नहीं तब परीक्षा किसकी ? उनके मस्तकपर तो कुन्दकुन्द या महावीर लिखा हुआ नहीं है, और कदाचित् यदि लिखा हुआ भी हो तो वह उसपर विश्वास कैसे करेगा, क्योंकि कृत्रिम रूपसे भी तो नाम लिखा या लिखाया ही जा सकता है। जो सबको सन्देह की दृष्टिसे देखता है, वह परीक्षा कैसे कर सकता है। उसके समक्ष तो उसका सन्देह ही साकार होकर उपस्थित रहेगा। इसलिए परीक्षा सम्भव नहीं। अभिमानी परीक्षा कर नहीं सकता और विनयशील परीक्षा करना जानता नहीं।

किसी दूसरेकी परीक्षा नहीं करनी है, अपनी ही परीक्षा करनी है। जो अपनी परीक्षा करके 'मैं अभिमानी हूँ' यह जान जाता है वह अपने अभिमानको तोड़कर विनयशील बन जाता है, शिष्य बन जाता है। शिष्य बना नहीं कि गुरु प्राप्त हुये नहीं। गुरु दूर नहीं आपके निकट बैठे हैं। निकटसे निकटतम हैं। शिष्य बनना सीख जायें तो गुरु प्राप्त ही हैं। विनयके द्वारा शिष्य बना जाता है, अभिमानके द्वारा नहीं। आत्म-परीक्षाके द्वारा शिष्य बन जाता है, पर-परीक्षा के द्वारा नहीं।

विनयके द्वारा शिष्यत्व प्राप्त कर लेनेपर गुरुकी प्राप्ति होती है, और गुरुकी प्राप्ति होनेपर देशना-लब्धि होती है, जिसके बिना तत्त्वदृष्टि खुलना सम्भव नहीं। देशना-लब्धिका स्वरूप आगे बताया जाने वाला है, यहां केवल इतना जानना पर्याप्त है कि गुरु-विनयके बिना तत्त्वदृष्टि प्राप्त होनी सम्भव नहीं और न ही उसकी शरणापत्तिके बिना सहजावस्था ही सम्भव है।

“दुर्लभो विषयत्यागः, दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।

दुर्लभा सहजावस्था, सद्गुरोः करुणां विना ॥”

गुरुकी यह करुणा या कृपा विनयके विना सम्भव नहीं और विनय अभिमानके सद्भावमें सम्भव नहीं।

१. चारित्तं खलु धम्मो

हृदय अथवा प्रेमके बारेमें जिसका अबतक उल्लेख किया गया है और आत्मोन्नतिकी अथवा गुण-प्राप्तिकी सभी पारमार्थिक भावनाओंमें जिसकी अनुगति अथवा अनुस्यूति दर्शाई गयी है, वह जीवनका अत्यन्त महिमावन्त अन्तिम सारभूत तत्त्व है। भोगासक्ति इसका बहिर्मुख भौतिक स्वरूप है और मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्य आदि इसके अन्तर्मुख आध्यात्मिक रूप हैं। बहिर्मुख होनेपर जो पतनका हेतु है वही अन्तर्मुख होनेपर साक्षात् धर्म बन जाता है।

“चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्धिठो।

मोहक्खोह विहोणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥”

चारित्र ही धर्म है। भले व्यवहार भूमिपर अशुभ विषयोंसे निवृत्ति और शुभ विषयोंमें प्रवृत्ति करनेको चारित्र कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें वह चारित्र नहीं, चारित्रको हस्तगत करनेका साधन है। यद्यपि साधनके बिना साध्यको प्राप्ति नहीं होती, जिसप्रकार कि मार्गके बिना गन्तव्य स्थानपर पहुँचा नहीं जा सकता, परन्तु मार्ग ही गन्तव्य नहीं होता। साध्यको भूलकर केवल साधनमें अटकने

वाले सभी साधक वास्तवमें अटके हुए हैं। परन्तु यह सर्वथा निरर्थक हो ऐसा भी नहीं है। विवेक युक्त किये जानेपर इसके द्वारा वासनाओंका शमन तथा वमन अवश्य होता है। इस प्रकार यह न तो अत्यन्त निरर्थक है और न ही अत्यन्त सार्थक है। ज्यों-ज्यों वासनार्यें ढीली पड़ती हैं त्यों-त्यों इसे भी ढीला पड़ना चाहिये, अन्यथा यह भी स्वयं वासनाका रूप धारण कर लेता है। इस रहस्यसे अनभिज्ञ साधक प्रायः ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते हैं त्यों-त्यों इसे अधिक कठोर करते जाते हैं। यही उनका अटकना है।

परन्तु निश्चय तथा व्यवहार की यह सन्धि इतनी सूक्ष्म है कि तनिक सा इधर होनेपर व्यक्ति जिसप्रकार विषय-त्याग-रूप हठवाद-के कुएंमें गिर पड़ता है, उसीप्रकार तनिकसा उधर होनेपर प्रमाद तथा स्वच्छन्दाचारकी खाईमें सर तुड़ाता है। दोनोंके मध्यमें रहना ही विवेककी मांग है, जिसे केवल वही समझ सकता है जिसने हृदयकी भूमिमें प्रवेश किया है।

धर्मका अर्थ स्वभाव है, न कि क्रिया अथवा त्याग। 'वत्युसहावो धम्मो'। चेतनका स्वभाव समता तथा शमता है, इसलिये वही इसका धर्म है। और धर्म होने के कारण वही इसका चारित्र है अर्थात् सहज आचरण है। समताका अर्थ है सबको समान दृष्टिसे देखना और शमता का अर्थ है विकल्प-विश्रान्ति। वास्तवमें दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। समताके अभावमें विश्रान्ति सम्भव नहीं, और विश्रान्तिके अभाव में समता केवल भ्रान्ति है। समताका सम्बन्ध सम्यग्दर्शनके साथ है और विकल्प-विश्रान्तिका सम्बन्ध सम्यक्-चारित्रके साथ है। इसीलिये मोह तथा क्षोभसे विहीन आत्म-परिणामको समताका स्वरूप बताया गया है। मोह अर्थात् मिथ्या-दृष्टि और क्षोभ अर्थात् वैकल्पिक भागदौड़ अथवा मिथ्या-चारित्र, इन दोनोंका अभाव होनेपर आत्माका जो विशुद्ध परिणाम प्रकट होता है वह

उसका स्वभाव होनेसे धर्म है और वही उसके जीवनका सहज प्रवाह होनेसे चारित्र्य है।

२. समता शमता

समग्र विश्व को एक अखण्ड सत्ता के रूप में न देखकर इसमें प्वायंट लगा कर देखना ही वास्तव में विषमता है। क्योंकि ऐसा करने से ही मैं-मेरा, तू-तेरा के अथवा इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि के परस्पर विरोधी विषम द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। प्वायंट लगाये बिना समग्र को देखें तो कौन मनुष्य और कौन पशु, कौन स्त्री और कौन पुरुष, कौन बालक और कौन वृद्ध। न यहां कोई विद्वान है न मूर्ख, न ब्राह्मण है न शूद्र, न छोटा है न बड़ा। इसी प्रकार न यहां कुछ मेरा है न तेरा, न इष्ट है न अनिष्ट, न ग्राह्य है न त्याज्य, न कर्तव्य है न अकर्तव्य। साक्षी भाव से समग्र का अवलोकन करने वाले के लिये इन सब द्वन्द्वों को अवकाश ही कहां है।

जिस तात्त्विक दृष्टि से मैं आत्मा हूँ उस दृष्टि से आप सब भी आत्मा हैं। और जिस भौतिक दृष्टि से आप मनुष्य हैं उस दृष्टि से मैं भी मनुष्य हूँ। फिर मुख से तो अपने को आत्मा कहना और आंखों से जगत में मनुष्य पशु आदि देखना, छोटे-बड़े का, जैन-अजैनका, ब्राह्मण-शूद्रका, ग्राह्य-त्याज्यका व्यवहार करना, यह कैसे सम्भव हो सकता है। यदि हमारे पास दो दृष्टियां होतीं, अपनेको देखने वाली दृष्टि पृथक् होती और दूसरोंको देखनेवाली पृथक् होती तब तो कदाचित् इस प्रकारका विषम व्यवहार सम्भव हो भी जाता, परन्तु सौभाग्यसे ऐसा नहीं है। इसलिये तत्त्वालोकमें छोटे बड़े आदिका विषम व्यवहार मिथ्या है, मोह है।

इस मोहका अभाव ही समताका लक्षण है। यहां जो ब्राह्मण है वही शूद्र है, जो जैन है वही अजैन है, जो स्त्री है वही पुरुष है,

जो ग्राह्य है वही त्याज्य है, अथवा इनमेंसे कुछ भी नहीं है। केवल एक महासागर है जिसकी ये सब छोटी बड़ी तरंगें हैं, अन्य कुछ नहीं। इसलिये सब दृश्य हैं, सब सुन्दर हैं। मोहके अभावमें उत्पन्न यह समता-दृष्टि ही हमारा स्वभाव होनेके कारण धर्म है।

इसी प्रकार समग्रको युगपत् न देखकर क्रमसे एक-एक पदार्थको देखना क्षोभ है। क्योंकि ऐसा करनेसे ज्ञान एक विषयको छोड़कर दूसरेपर और दूसरे विषयको छोड़कर तीसरेपर सदा भागता रहता है। एक क्षणको भी निश्चल तथा शान्त नहीं होता। प्वायंट लगाये बिना समग्रको युगपत् देखनेसे इस भाग-दौड़को अवकाश नहीं है। यही शमता शान्ति या विश्रान्ति है। जीवनका सहज वर्तन होनेके कारण यह चारित्र्य है।

३. परमार्थ

विषम देखने वाले मोहके अभावमें समता होती है और भागते रहने वाले क्षोभके अभावमें शमता। इन दोनों का संगम ही अमृत है, निर्विकल्प सुख है, रसानुभूति है। यही वह अन्तिम परमार्थ भूमि है जिसे शास्त्रोंमें साम्य, स्वास्थ्य समाधि, योग, चित्त-निरोध, शुद्धोपयोग, आत्मानुभूति, माध्यस्थ्य, उपेक्षा, वैराग्य, विरागता, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, प्रशम, शान्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है।

“साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।

शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा।

वैतृष्ण्यं प्रशमः शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ॥”

४. दश धर्म

क्षमा मार्दव आर्जव आदि जितने कुछ भी धर्म बताये गये हैं वे वास्तव में इस समताकी ही विविध स्फुरणायें हैं। उन सबमें

समताका उपर्युक्त लक्षण अनुगत है, इसीलिये उन्हें धर्म कहा गया है। किसीको अपराधी देखकर उसके अपराधको क्षमा कर देना यहां क्षमा नहीं कहलाता। राध तथा अपराध दोनोंको समान देखते हुये क्रोधका उदित ही न होना क्षमा धर्म है। इसी प्रकार शास्त्रमें पढ़-सुनकर अथवा किसीके कहने सुननेसे अथवा शिष्टाचार पालन करने के लिये मस्तक झुकानेको मार्दव नहीं कहते। 'कोई बड़ा छोटा नहीं ऐसा समत्व जागृत करके सबके साथ समान व्यवहार करना, किसीका सम्मान किसीका तिरस्कार और किसीके साथ माध्यस्थता ऐसा विषम व्यवहार न करना मार्दव धर्म है। पूर्व अधिकारमें प्रेमपूर्ण विनय अथवा भक्तिका कथन किया गया है, यह मार्दव धर्म उससे विलक्षण है। समता-परिणाम वालेमें वक्र व्यवहार सम्भव नहीं। बालवत् सरल व्यवहार उसका स्वभाव बन जाता है। यही आर्यत्व धर्म है। किसी विषयके त्यागको शौच अथवा सन्तोष नहीं कहते। कोई विषय आये या जाये, उसमें किसी प्रकारका विकल्प न करना, न ग्रहणका न त्यागका; विधि निषेधसे अतीत हो जाना, यही समतापूर्ण सन्तोष धर्म है। इसी प्रकार आगे भी सर्वत्र जानना।

हृदयवाले प्रकरणमें जिसे प्रेमके नामसे कहा गया है वही धीरे-धीरे विकसित तथा व्यापक होता हुआ समताका रूप धारण कर लेता है। इसीलिये व्यापक प्रेमका नाम ही समता है। किसी एक जड़ पदार्थके प्रति होनेपर वह आसक्ति कहलाता है, किसी एक चेतन पदार्थके प्रति होनेपर वह प्रेम कहलाता है और समग्रके प्रति होने पर वह समता कहलाता है। इसलिये हृदय ही धर्मकी भूमि है, मन बुद्धि आदि नहीं।



१२. आगे बढ़ो

१. अटकने नहीं चलो

हृदय के स्वरूप का उसकी गहनताका तथा धार्मिक क्षेत्र में उसके महत्त्वका परिचय न होनेके कारण व्यक्ति समता तथा शमताके स्वरूपका अवधारण नहीं कर सकता । तब उसे हस्तगत करनेका तो प्रश्न ही क्या । ये सब बातें यद्यपि शास्त्रमें निबद्ध हैं परन्तु कितने व्यक्ति हैं जो इस रहस्यको समझने का प्रयत्न करते हैं । यद्यपि आध्यात्मिक चर्चायें बहुत बढ़ गयी हैं, और इसी प्रकार तप तथा त्याग भी, परन्तु समताको चर्चाका विषय किसने बनाया है और तप तथा त्यागमें समताको किसने स्थान दिया है, यह बात भगवान् ही ठीक जानते हैं । उसके अभावमें सभी अटके हुए हैं, कोई किसी भूमिमें और कोई किसी भूमिमें, कोई किसी सोपानपर और कोई किसी सोपानपर । अटकन न हटे तो आगे कैसे बढ़ें ?

गुरुजनोंका समस्त प्रयास, उनका उपदेश तथा शास्त्र-रचना आदि सब मुमुक्षुओंके कल्याणके लिये हैं, अपने किसी स्वार्थका पोषण करनेके लिये नहीं । परन्तु मोह तथा अविद्याका ही यह कोई अचिन्त्य माहात्म्य है कि उसकी शरणमें आकर भी व्यक्ति अटका रहता है । भले ही वेष बदल ले, भले ही क्रिया बदल ले, भले ही

बोलनेका ढंग बदल ले, भले ही चर्चाओंका विषय बदल ले परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर सब अटके हुए हैं। केवल वेष बदलनेसे अटकन नहीं हटती, केवल क्रिया बदलनेसे अटकन नहीं हटती, केवल बोलनेका ढंग बदलनेसे अटकन नहीं हटती, केवल चर्चाओंका विषय बदलनेसे अटकन नहीं हटती। ये सब अभिनय मात्र हैं। स्वांग बदलनेसे व्यक्तित्व नहीं बदलता, हृदय बदलनेसे व्यक्तित्व बदलता है। व्यक्तित्वका बदलना ही अटकनका हटना है।

परन्तु निराश न होइये, जो आज मुक्त हैं वे भी पहले अटके हुए थे। अटक-अटककर भी बराबर आगे चलते रहे। नदीके प्रवाहमें बहने वाला पत्ता कभी यहाँ अटकता है कभी वहाँ अटकता है, परन्तु अटक अटककर भी वह प्रवाहके साथ बराबर आगे बढ़ता रहता है, और एक दिन सागरमें पहुँच जाता है। इसीप्रकार आप भी आगे बढ़िये। अटकन सबके मार्गमें आती है, आई है और आती रहेगी, परन्तु पुरुषार्थका काम सदा प्रयत्न करते रहना है, सदा संघर्षरत रहना है। आप आगे बढ़िये, स्वयं नहीं बढ़ सकते तो दूसरेकी अंगुली पकड़कर बढ़िये। मेरी अंगुली पकड़कर आप आगे बढ़िये और अपनी अंगुली पकड़कर मुझे आगे बढ़ाइये।

२. परस्पररोपग्रहो जीवानाम्

इधर-उधरकी बात सुनकर निराश मत होइये। न ही अपनेसे आगे वालेको देखकर हताश होइये। उससे प्रेरणा प्राप्त कीजिए और चलिये, अटकिये नहीं। पूरे विश्वासके साथ चलिये। जो चलता है सफलता उसकी दासी बन कर रहती है। परन्तु सफलताकी आकांक्षा मत कीजिए, 'मैं कब पहुँचूंगा' इसकी चिन्ता न कीजिये। जो चलता है वह अवश्य पहुँचता है, इतना विश्वास रखिये। आकांक्षासे 'सफलता होगी या नहीं' ऐसी आशंका होती है, विघ्न बाधाओंका भय होता है। जहाँ आकांक्षा नहीं वहाँ न

शंका है न भय। विघ्न सबके मार्गमें आते हैं, उनसे घबराना नहीं चाहिए। वीर डरते नहीं करते हैं, सोचते नहीं चलते हैं, इसीमें निःशंकितत्व तथा निःकांक्षित्व की सार्थकता है।

यह मार्ग है, जिसपर सब चले जा रहे हैं। सब पथिक हैं कोई आगे है और कोई पीछे। जो आज आगे है वह कल पीछे हो जाता है, और जो आज पीछे है वह कल आगे हो जाता है। जो खर-गोशकी भांति अभिमान करके आगे बढ़ता है वह पीछे रह जाता है, और जो कछुआकी भांति धैर्य तथा विश्वासपूर्वक धीरे-धीरे चलता है वह आगे बढ़ जाता है। आगेवालेसे ईर्ष्या मत करो और पीछे वालेका उपहास मत करो, बल्कि एक दूसरेको सहयोग देकर तथा एक दूसरेसे सहयोग लेकर आगे बढ़ो। ईर्ष्या तथा तिरस्कार करनेकी बजाए एक दूसरेको प्रेरणा दो और एक दूसरेसे प्रेरणा लो। 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' यही स्थितिकरण अंग है।

अभिमान मत करो। अपनेको बड़ा समझकर दूसरेको छोटा मत देखो। सब समान हैं, कोई बड़ा छोटा नहीं। किसीको दोषी न समझो। दोष दिखाई दे तो उसे दोष न समझकर रोग समझो। यहां सब रोगी हैं, किसीको रोग अधिक है और किसीको कम। दोष कहनेसे विचिकित्सा ग्लानि अथवा तिरस्कार की भावना जाग्रत होती है और रोग कहनेसे करुणा, सहानुभूति प्रेम तथा वैयावृत्ति की भावना उदित होती है। यही निर्विचिकित्सा, उपगूहन तथा वात्सल्य गुण हैं।

इस प्रकार हम भी आगे बढ़ें और दूसरोंकी भी आगे बढ़ायें। महन्त बननेकी बजाय सेवक बनें, पिता बननेकी बजाए माता बनें। दूसरोंकी उन्नतिमें ही हमारी उन्नति है और दूसरोंके पतनमें हमारा पतन। इसलिये किसीको गिरानेका अथवा अपनेसे नीचा

वनानेका प्रयत्न न करें। स्वयं ऊपर उठनेके साथ-साथ सबको ऊपर उठानेका प्रयत्न करें। यही प्रभावना अंग है।

३. पुरुषार्थ की महिमा

आप यदि पीछे हैं तो कोई चिन्ता नहीं। जहां कहीं भी आप हैं वहांसे ही आगे चलिये। इतना ही ध्यान रखिये कि अटकना नहीं है। बिना कुछ किये पिताकी सम्पत्तिसे धनाढ्य बननेकी बजाए वह निर्धन अच्छा है जो अपने पुरुषार्थसे अपना तथा अपने कुटुम्बका पेट पालता है। जो जन्मसे ही अधिक गुण लेकर पैदा हुआ है, ऐसे गुणवानकी अपेक्षा वह गुणहीन अच्छा है जो वर्तमानमें अपने दोषोंसे ऊपर उठनेका प्रयत्न कर रहा है।

आगे बढ़िये, इसीमें पुरुषके पुरुषार्थका सार्थक्य है। पुरुषार्थकी परीक्षा काम परसे नहीं होती। हीन शक्तिवाला अधिक पुरुषार्थ करके थोड़ा काम कर पाता है और अधिक शक्तिवाला थोड़ा पुरुषार्थ करके अधिक काम कर लेता है। श्रमिक सारे दिन परिश्रम करके भी उतना नहीं कमाता जितना कि कोई सेठ एक इशारेमें कमा लेता है। एक चींटी जितनी देरमें चावलका एक दाना लेकर दीवारपर एक मीटर चढ़ती है उतनी ही देरमें एक मजदूर एक बिटलका बोरा लेकर तीन मंजिल चढ़ जाता है। इनमें पुरुषार्थ किसका अधिक है? एक करोड़पति एक लाखका दान देकर भी क्या उतना दे पाता है जितना कि तीन दिनका कोई भूखा बड़ी कठिनाईसे प्राप्त एक पाव चावलमें से एक चुटकी देकर दे देता है?

इस सब कथन परसे इतना ही समझिये कि आप छोटे नहीं हैं, न ही बड़े हैं। आप हैं केवल एक पथिक। पथिक बने रहनेमें ही आपका कल्याण है। न तो प्रमादवश अपनी शक्तिको छिपाइये और न अहंकारवश दूसरोंका उपहास तथा तिरस्कार कीजिए। ●

१३. सत्पुरुषार्थ

१. हृदय परिवर्तन

आगे बढ़ना कहा गया। परन्तु आगे बढ़ना क्या? पाँवसे आगे बढ़नेकी बात नहीं है, न ही अधिक धनवान बननेकी बात है। अधिक गुणवान् बननेकी बात है। गुण भी शारीरिक गुण नहीं, मानसिक गुण नहीं, वाचिक गुण नहीं, चैतसिक गुण नहीं, बौद्धिक गुण नहीं, हार्दिक गुणोंमें वृद्धि करनी है।

शरीरका वेष बदल लेना, शारीरिक तप करना, शरीर तथा इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर देना शारीरिक गुण हैं हार्दिक नहीं। 'अधिकाधिक तप तथा त्याग करूँ, अधिकाधिक शास्त्र ज्ञान प्राप्त करूँ', इस प्रकारका संकल्प करना मानसिक गुण है, हार्दिक नहीं। शास्त्रीय भाषामें बोलने लगना बड़ी-बड़ी सभाओंमें प्रवचन देना, जनरंजन करना वाचिक गुण है हार्दिक नहीं। शास्त्रीय बातोंका मनन चिन्तन करना, ध्यान करना चैतसिक गुण है हार्दिक नहीं। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना बौद्धिक गुण है हार्दिक नहीं।

हार्दिक गुण है प्रेम। मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य, संवेग, वैराग्य, दया, विनय, भक्ति, वैयावृत्य, वात्सल्य, सहानुभूति, सहायता, स्थितिकरण, इत्यादि सब उसकी विविध स्फुरणायें हैं।

पहचानिये और परखिये । यदि हृदयके कपाट बन्द हैं तो पूजा, भक्ति, उपासना, आराधना, तप, त्याग, स्वाध्याय, चर्चा तथा अन्य धार्मिक क्रियायें करके भी आप क्या कर पाते हैं ? जिस प्रकार शरीर तथा धन यहीं रह जाता है, इसी प्रकार ये सब क्रियायें भी यहीं रह जाती हैं । हृदय ही हमारा जीवन है, यही हमारा व्यक्तित्व है । लोकमें भी कहावत है कि 'इसका हृदय बड़ा काला है, इसका हृदय बड़ा उज्ज्वल है' । हृदयवान व्यक्ति ही लोकमें विश्वासका पात्र होता है, हृदयहीन नहीं । इसलिये हृदयके मार्गमें आगे बढ़ो, उसके बन्द कपाट खोलनेका प्रयत्न करो ।

“हृदयके पट खोल रे तोहि राम मिलेंगे ।”

समता ही हमारा लक्ष्य है, वही हमारा मन्तव्य है, वही हमारा प्राप्तव्य है, वही हमारा साध्य है । वही परमार्थ धर्म है, वही परमार्थ चारित्र्य है, वही परमार्थ तप है, वही परमार्थ स्वाध्याय है । इसीलिये न्यायके अनुसार ज्यों-त्यों उसकी उलब्धि होती जाये त्यों-त्यों व्यवहार-धर्मका, व्यवहार-चारित्र्यका, व्यवहार-तपका, व्यवहार-स्वाध्यायका त्याग होता जाना चाहिए । जिस प्रकार रूग्ण अवस्थामें औषधी रोगीके लिये उपकारी होती है उसी प्रकार ये सब यद्यपि व्यवहार भूमिवाले साधकके लिए परमोपयोगी हैं, परन्तु जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्तिके लिये औषधी विष है उसी प्रकार समताको परमार्थ भूमिके हस्तगत हो जानेपर ये सब विष हैं ।

व्यवहार सम्यग्दर्शनके क्षेत्रमें उल्लिखित तत्त्वश्रद्धान्, व्यवहार सम्यग्ज्ञानके क्षेत्रमें उल्लिखित शास्त्राध्ययन, व्यवहार चारित्र्यके क्षेत्रमें उल्लिखित शुभे प्रवृत्ति, अशुभे निवृत्ति, त्याग, व्रत आदि और व्यवहार तपके क्षेत्रमें उल्लिखित प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, प्रतिस्मरण, आलोचन, निन्दन, गर्हण, परिणाम-विशुद्धि आदि सब यद्यपि व्यवहार भूमिवाले प्रमत्त साधकके लिए अमृतकुम्भ कहे गये हैं,

परन्तु समताकी परमार्थ भूमिवाले अप्रमत्त साधकके लिए विषकुम्भ बनकर रह जाते हैं ।

“पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होई विसकुंभो ॥”

२. त्यागका त्याग

आचार्योंके अत्यन्त गम्भीर रहस्यका स्पर्श न कर पानेके कारण श्रोता यहाँ असमंजसमें पड़ जाता है । एक ओर तो परमपूज्य आचार्योंके शब्द जिनपर अंगुली उठानेका हम साहस नहीं कर सकते और दूसरी ओर व्यवहारका साक्षात् विरोध । सकल आचार शास्त्रकी आज्ञा और तदनुसार सकल धर्मात्माओंकी प्रवृत्ति ऐन्द्रिय विषयोंका त्याग कराने तथा करनेके प्रति होती है, जब कि इस विवेचनमें इस त्यागका भी त्याग करनेके लिए कहा गया है । निषेधके निषेधका अर्थ जिसप्रकार विधि होता है उसी प्रकार त्यागके त्यागका अर्थ विषयका ग्रहण होता है । निर्भय होकर ऐन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति करना और उसे अमृतकुम्भ बताना स्पष्ट स्वच्छन्दाचार है, इसमें किसीको कुछ भी कहनेको अवकाश नहीं ।

परन्तु शान्त हो प्रभो शान्त हो, यद्यपि बाह्य दृष्टिसे देखनेपर तेरा क्षोभ अत्यन्त युक्त है, तदपि आचार्योंका ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है । वे किसी दूसरे लोककी बात कर रहे हैं, चित्त-शोधनकी अथवा चित्त-मुक्तिकी बात कर रहे हैं । विषयके ग्रहण-त्यागकी यहाँ बात ही नहीं है । वे ग्रहण-त्यागके विकल्पसे अतीत उस समता भूमिकी बात कर रहे हैं, जहाँ न किसी विधिको अवकाश है और न निषेधको । इष्ट-अनिष्ट, ग्रहण-त्याग, विधि-निषेध, धर्म-अधर्म ये सब वास्तवमें मानसिक विकल्प हैं, परमार्थ भूमिपर जिनकी कोई सत्ता नहीं ।

अहंकारकी उपज होनेके कारण यहाँ केवल विकल्पके त्याग-

अत्यागकी चर्चा है, विषयके त्याग-अत्यागकी नहीं। विषय इन्द्रियोंके समक्ष उपस्थित हो या न हो यदि चित्तमें उसके प्रति ज्ञातृत्व, कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्वकी कामना विद्यमान है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा उसे न जानते हुये भी, न करते हुये भी तथा न भोगते हुये भी, चित्तके द्वारा उस विषयको जान रहा है, कर रहा है तथा भोग रहा है। विपरीत इसके यदि चित्तमें उस विषयके प्रति ज्ञातृत्व कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्वका कोई अभिमान तथा अहंकार विद्यमान नहीं है, तो भरत चक्रीकी भाँति बाहरमें उसका स्वामी होते हुये भी भीतरमें वह उसका स्वामी नहीं हैं। इन्द्रियोंके द्वारा उसे देखते तथा सुनते हुये भी चित्तके द्वारा वह उसे न देख रहा है और न सुन रहा है, इन्द्रियोंके द्वारा करते तथा भोगते हुये भी चित्तके द्वारा वह न उसमें कुछ कर रहा है और न भोग रहा है।

“सेवंतो वि ण सेवई, असेवमाणो वि सेवगो कोई।”

समन्वय

यह हमारे विकासकी चरमभूमि है। उत्तर-उत्तर सोपानपर पहुँचकर पूर्व-पूर्व सोपानका त्याग करते जाना विकासका क्रम है। उत्तरवर्ती सोपानपर पग जमाये बिना ही यदि पूर्व सोपानको छोड़ दे तो नीचे गिरकर सर तुड़ाये। इसी प्रकार निश्चय भूमिको प्राप्त किये बिना ही यदि व्यवहार भूमिको छोड़ दे तो स्वच्छन्दाचारी बनकर नष्ट हो जाये। इसी प्रकार निश्चय भूमिके प्राप्त होनेपर भी यदि व्यवहार भूमिका त्याग न करे तो विकासका मार्ग रुक जाये। दोनों ही दिशाओंका एकान्त बुरा है। ‘व्यवहार भूमिपर जो कुछ भी ग्रहण अथवा त्याग किया जा रहा है वह सब आगे चलकर त्याग देनेके लिये है, चिपकनेके लिये नहीं।’ यह अवधारण करके व्यवहारका अवलम्बन लेना ही निश्चय तथा व्यवहार दोनोंके मध्यमें रहकर चलना है।

१४. विकास

१. रूपान्तरण

प्रकृतिके गर्भमें जो कुछ भी है वह सब विकसनशील है। अणु-अणु विकास कर रहा है। निगोद राशिमें पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीटाणु विकासकी विविध श्रेणियाँ पार करते हुए एक दिन इन्सान बन जाता है, इन्सान भगवान् बन जाता है और अंकुर पल्लवित पुष्पित तथा फलित होकर वृक्ष बन जाता है।

जिसे आप आज दोष कहते हैं वही कलको गुण बन जाते हैं। किसी भी वस्तुका निरन्वय नाश नहीं होता। केवल रूपान्तरण होता है, Transformation होता है। पर्याय ही बदलती है शक्ति नहीं। आपमें अनेकों शक्तियाँ हैं, सब आपकी सम्पत्ति हैं। सब आपकी विभूति हैं। विवेक न होनेके कारण आप इनका अपव्यय कर रहे हैं, अथवा दुरुपयोग कर रहे हैं। अतः आपके द्वारा किया गया वह उपयोग ही अच्छा या बुरा है, आपकी शक्तियाँ नहीं। धनका उपयोग ही अच्छा बुरा है, धन नहीं। दानार्थ खर्च करनेपर वह अच्छा है और भोग-विलासके लिए खर्च करनेपर बुरा।

२. बुरा भी अच्छा

इसी प्रकार ज्ञान इच्छा प्रयत्न प्रेम आदि सबको जानना। समग्रको न जानकर क्रमसे एक-एकको जाननेवाला विषयोन्मुखी ज्ञान विकल्पोत्पादक होनेके कारण बुरा है, परन्तु समग्रको युगपत् ग्रहण करनेवाला तत्त्वोन्मुखी ज्ञान समता-प्रदायक होनेके कारण अच्छा है। विषयोन्मुखी इच्छा, वासना-वृद्धिकी हेतु होनेके कारण बुरी है, परन्तु समग्रको आत्मसात् करनेवाली तत्त्वोन्मुखी इच्छा समता-वृद्धिकी हेतु होनेसे अच्छी है। केवल संज्ञा-भेद है। विषयोन्मुखी इच्छाको कामना, अभिलाषा आदि निन्दनीय शब्दोंके द्वारा कहा जाता है, और तत्त्वोन्मुखी इच्छाको श्रद्धा, रुचि, अन्तःप्रेरणा, जिज्ञासा आदि प्रशंसनीय शब्दोंके द्वारा। विषयार्जनके प्रति किया गया प्रयत्न वासना-वृद्धिका हेतु होनेसे बुरा है, परन्तु तत्त्वोन्मुखी होनेपर वही समता-वृद्धिका हेतु होनेसे प्रशंसनीय है। विषयोन्मुखी प्रेमको आसक्ति रति राग आदि नामों के द्वारा अभिहित करके उसकी निन्दा की जाती है, परन्तु तत्त्वोन्मुखी होनेपर वही मैत्री प्रमोद कारुण्य आदिका रूप धारण करके जगद्गुण बन जाता है।

वाल्मीकि सरीखे भयंकर डाकू ही दिशाफेर हो जानेपर सफल साधक बन जाते हैं। इसीलिये अपनी किसी भी शक्तिका तिरस्कार नहीं करना है, केवल दिशामें फेर करना है। आज जितनी अधिक विषयासक्ति है, दिशाफेर हो जानेपर वह उतनी ही अधिक तत्त्वा-सक्ति बन जायेगी। भौतिक विज्ञानमें आज जिनकी बुद्धि अधिक काम कर रही है, वही दिशाभेद हो जानेपर आध्यात्मिक विज्ञानमें प्रगति करेगी। जो आज अपनी सन्तानको अधिक प्रेम करता है, वही दिशाफेर हो जानेपर विश्वको आत्मसात् करनेमें सफल होता है। जो प्रेम अपने शरीर के प्रति अथवा अपने कुटुम्बके प्रति होनेके कारण आज स्वार्थ नाम पा रहा है वही दिशाफेर हो जानेपर समस्त विश्वके प्रति होकर समता नाम पाता है।

इस प्रकार हमारी सारी शक्तियां जो आज विषयोन्मुख होनेके कारण संकीर्ण तथा तमोग्रस्त हैं वही तत्त्वोन्मुख होनेपर व्यापक तथा ज्योतिपुंज बन जाती हैं ।

२. व्यवहार ही निश्चय

शास्त्रमें दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, आराधना, समिति, गुप्ति, भक्ति, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण आदि प्रत्येकके अनेकों लक्षण किये गये हैं । वे वास्तव में उस-उस अंगके उत्तरोत्तर विविध सोपान हैं । जैसे कि देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा सम्यग्दर्शनका प्रथम सोपान है, जीवन में सात तत्त्वोंकी भूतार्थ प्रतीति करना उसका द्वितीय सोपान है, अन्य तत्त्वोंको छोड़कर केवल आत्माकी रुचि करना उसका तृतीय सोपान है और आत्मस्पर्श अथवा आत्मानुभूति उसका चतुर्थ सोपान है । इसी प्रकार शास्त्र-स्वाध्याय सम्यग्ज्ञान का प्रथम सोपान है, सप्ततत्त्व-विवेक द्वितीय सोपान है, स्व-पर भेद-विज्ञान तृतीय सोपान है और आत्मका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चतुर्थ सोपान है । चारित्रके क्षेत्रमें भी अशुभे निवृत्ति शुभे प्रवृत्ति प्रथम सोपान है, ज्ञान दर्शनकी एकता द्वितीय सोपान है, समता तथा शमता तृतीय सोपान है और आत्मस्थिरता चतुर्थ सोपान है ।

सर्वत्र पूर्व-पूर्ववर्ती सोपान साधन है और उत्तर-उत्तरवर्ती उसका साध्य है । जो द्वितीय सोपान पहलेके प्रति साध्य है वही अपनेसे आगेवाले तृतीयके लिए साधन है । जो तृतीय सोपान द्वितीयका साध्य है वही चतुर्थका साधन है । आद्य होनेके कारण प्रथम सोपान साधन ही है किसीका भी साध्य नहीं है । इसी प्रकार अन्तिम होनेके कारण चतुर्थ सोपान साध्य ही है किसीका भी साधन नहीं है । मध्यवर्ती सभी सोपान साधन भी हैं और साध्य भी, अपनेसे पूर्ववर्ती के लिए साध्य और अपनेसे उत्तर-

वर्तीके लिये साधन । सिद्धान्तकी भाषामें कहनेपर साधन और साध्यमें कोई भेद नहीं है । पूर्ववर्ती पर्याय साधन है और उत्तरवर्ती उसका साध्य । जो आज साधन है वही कलको साध्यके रूपमें रूपान्तरित हो जाता है । यही व्यवहार तथा निश्चयकी मैत्री है । व्यवहार पक्ष ही ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होता जाता है त्यों-त्यों निश्चयका रूप धारण करता चला जाता है । यही जीवनका विकास है ।

३. व्यवहारका वमन

मैंने जो आगे बढ़ो कहा है उसका तात्पर्य इसी विकास-क्रमसे है । सोपान दर सोपान ही आगे बढ़ा जाता है, क्रमसे ही भूमियों का अतिक्रमण किया जाता है । किसी भी सोपान अथवा भूमिके साथ मत चिपको, उसके मोहमें न पड़ो । अगले सोपानपर पग रख देनेके पश्चात् पहले सोपानको छोड़ दो । उस सोपानको न छोड़ कर अगले सोपानपर पर पहुँचना असम्भव है । किसी भी सोपानके साथ चिपके रहना मोह है । जिस प्रकार व्यक्तिको लौकिक जीवनमें धन कुटुम्ब आदिके साथ ममत्व रहता है, उसी-प्रकार साधनाके क्षेत्रमें भी उसे त्याग, तप, शास्त्राध्ययन आदिके प्रति ममत्व हो जाता है । वह उसे छोड़ना नहीं चाहता और उसे न छोड़ता हुआ ही आगे बढ़ना चाहता है । फलस्वरूप उसे कृत्रिमताओंको अपनाना पड़ता है, जिससे उसका जीवन समताकी ओर जानेकी बजाय पहलेसे भी अधिक विषमतामें उलझ जाता है । जैसा कि आजका साधक सामायिक चारित्रवाली साधुकी भूमिमें प्रवेश करके भी व्रत-त्यागवाली श्रावककी भूमिके साथ चिपका रहना चाहता है, जिससे परिग्रह तथा जन-संसर्ग घटनेकी बजाय और बढ़ जाता है ।

औषधी रोगका साधन है यह सत्य है, परन्तु औषधी ही स्वास्थ्य नहीं है । इसी प्रकार 'साधनके बिना साध्यकी सिद्धि

नहीं होती, यह बात सत्य है परन्तु साधन ही साध्य नहीं है। रोग शमन हो जानेपर भी यदि औषधीका त्याग न करे तो वह स्वयं रोग बनकर रह जाये। इसी प्रकार साध्यकी प्राप्ति हो जानेपर भी यदि साधनका त्याग न करे तो वह ही जीवनका भार बन जाये। जिसप्रकार औषधिका ग्रहण उसका शीघ्रातिशीघ्र त्याग कर देनेके लिये होता है, सदा ग्रहण करते रहनेके लिये नहीं; इसी प्रकार व्यवहार भले ही वह किसी भी क्षेत्रका क्यों न हो, दर्शनके क्षेत्रका हो, ज्ञानके क्षेत्रका हो, चारित्रिकके क्षेत्रका हो या तपके क्षेत्रका हो, शीघ्रातिशीघ्र छोड़नेके लिये होता है, सदा उसके साथ चिपके रहनेके लिए नहीं।

आगे आगे चलते हुए पीछे पीछेको छोड़ते रहना, और पीछे पीछेको छोड़ते हुए आगे आगे चलते रहना ही विकास क्रमका सूत्र है।

- ★ आत्मा के द्वारा आत्मा को देखे । तुम स्वयं सत्य को खोजो, तुम स्वयं सत्य पथ का निर्माण करो और अपने पथ पर स्वयं चलो ।
- ★ अहंकार और ममकार ने बुद्धि से कहा तू आनन्द को सीधा रहने दे, उसे मत जगा, क्योंकि जब वह जाग जाएगा तब न हम रहेंगे न तू रहेगी और न यह जगत् रहेगा ।

२

कर्म खण्ड

व्यक्तिके प्रत्येक कर्मका संस्कार उसकी
चित्त-भित्तिपर अंकित हो जाता है।
संस्कार-शोधन ही अध्यात्म-शोधन है।

✽ इन्द्रियां स्वभावतः ही बहिर्मुखी होती हैं । इसीलिये मनुष्य बाहर की ओर ही देखता है अपने अन्दर की ओर नहीं । कोई विरला या धीर पुरुष ही इन्द्रियों का संयम करके अमृतत्व को चाहता हुआ अपनी अन्तरात्मा को देखता है, आत्म परीक्षण और आत्म चिन्तन में प्रवृत्त होता है ।

१५-कल्याणकी ओर

१. अन्तर्मुख लोभ

दर्शन-खण्डके द्वारा अन्तर्दृष्टि जागृत हो जानेपर और उसके द्वारा आभ्यन्तर-जगतका परिचय प्राप्त हो जानेपर अब कर्म-रहस्य प्रवेश पाता है। अब तक का कथन वास्तवमें इसकी भूमिका थी।

“आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता विन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातैं, शिवमग लागो चाहिये ॥”

इस कारिकाका सकल रहस्य इसी सिद्धान्तमें गर्भित है। सुख ही वह महा-आकर्षण है जिसके कारण व्यक्ति कुछ न कुछ करनेमें प्रवृत्त होता है। यदि सुखका लोभ न हो तो कोई भी व्यक्ति कुछ करनेकी इच्छा न करे, जड़वत् अकर्मण्य हो जाये। परन्तु व्यक्तिको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये यह सुखके लक्षणपर अवलम्बित है। बाह्य-दृष्टि वालोंको क्योंकि विषयभोग के अतिरिक्त अन्य किसी सुखका परिचय नहीं है इसलिए उनके प्रति—

“आत्मको हित है सुख, सो सुख विषयभोगसे लहिये ।
विषयभोग धन बिन नहि तातैं, धन ही धन उपजइये ॥”

यह कारिका सर्वथा उचित है । परन्तु गुरु-कृपासे अन्तर्दृष्टिको प्राप्त जिस महाभागके लिए सुखका लक्षण निराकुलता अथवा समता है उसके प्रति इस कारिकाका क्या मूल्य हो सकता है । विपरीत इसके इस कारिकामें उल्लिखित प्रवृत्तिसे हटकर आभ्यन्तर-जगतमें प्रवृत्त होनेके प्रति ही उसकी सहज उन्मुखता होगी । यद्यपि सुखका लोभ उसको भी है परन्तु यह लोभ उसे बाहरसे हटाकर भीतरकी ओर ले जा रहा है, जबकि विषय-सुखका लोभ व्यक्तिको भीतरसे हटाकर बाहरकी ओर ले जाता है । इसलिये दोनोंमें ३६ के अंककी भांति परस्पर-विरोध है । कर्म-रहस्य उसकी आभ्यन्तर प्रवृत्तिका अत्यन्त विशद दार्शनिक चित्रण प्रस्तुत करता है । इसके अन्तर्गत अनेकों प्रश्नोंका समाधान निहित है, यथा—कर्म क्या है, जीवनमें उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार होती है, उसके त्यागका उपदेश क्यों दिया जाता है, कर्म-त्यागका क्या आशय है और वह कैसे किया जाता है, आत्माके हितके साथ उसका क्या सम्बन्ध है, इत्यादि ।

२. जैन दर्शनका श्रेय

इन सभी प्रश्नोंका उत्तर यद्यपि अपनी-अपनी भूमिकाके अनुसार न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य-योग तथा वेदान्त आदि दर्शनोंने भी दिया है, परन्तु जैन-दर्शन ने इन प्रश्नोंका तथा इनके साथ-साथ अन्य अनेक प्रश्नोंका उत्तर जिस अनुभव-सिद्ध आभ्यन्तर-विज्ञानके द्वारा दिया है वह अपनी जातिका स्वयं है । इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्तका विवेचन अपनी-अपनी भूमिकानुसार अन्य सभी दर्शनोंने भी किया है, परन्तु इस विषयका जितना विशद तथा विस्तृत विवेचन जैन-दर्शनमें निबद्ध है, उसके समक्ष वह सागरमें

बिन्दुकी भांति नगण्य तुल्य है। इसका कारण यह है कि अन्य दर्शन जहां केवल तात्त्विक ज्ञानको मोक्षका हेतु मानते हैं वहां जैन-दर्शन तत्त्वज्ञानके साथ-साथ चारित्र पर जोर देता है। इसकी दृष्टिमें तत्त्वज्ञान मोक्षका परम्परा हेतु है जबकि चारित्र साक्षात् हेतु है—‘चारित्तं खलु धम्मो ।’ इसकी तात्त्विक व्यवस्था भी चारित्रको प्रधान मानकर की गयी है। ज्ञातृत्वकी दिशामें, कर्तृत्वकी दिशामें अथवा भोक्तृत्वकी दिशामें हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, क्यों करना चाहिये और क्यों नहीं करना चाहिये, यही इस दर्शनका प्रधान प्रतिपाद्य है। इस दर्शनके अनुसार व्यक्ति कर्मके द्वारा नीचे गिरता है और कर्मके द्वारा ही ऊपर उठता है, इसलिये कर्म-सिद्धान्तके भीतर जितना गहरा प्रवेश जैन-दर्शनको प्राप्त है वह अन्य किसी दर्शनको नहीं है।

३. स्वतन्त्र भाषा

इस छोटेसे प्रबन्धमें उस सर्व सिद्धान्तको समा देना तो मेरी शक्ति के बाहर है, तथापि उसका संक्षिप्त भावार्थ मात्र प्रस्तुत करनेका यह एक अनधिकृत प्रयास मात्र है। जटिल सैद्धान्तिक परिभाषाओंको छोड़कर जन-साधारणकी भाषामें निबद्ध होनेके कारण बहुत सम्भव है कि शास्त्रज्ञोंको कहीं-कहीं इसमें शास्त्र-विरोध सरीखा कुछ प्रतीत हो, परन्तु यदि कुछ देरके लिये शास्त्रीय शब्दोंका पक्ष छोड़कर वे इन परिभाषाओंके अनुभव-सिद्ध वाच्यार्थको अपने भीतर पढ़नेका प्रयत्न करें ता मुझे विश्वास है कि इस भ्रान्तिके लिये कहीं स्थान नहीं रह जायेगा। तथापि मैं वाणी सान्नासे क्षमा मांगता हूँ कि मैंने उसकी परिभाषाओंको छोड़कर स्वतन्त्र भाषाका प्रयोग कर लिया है।

४. अव्यात्म तथा कर्मशास्त्रका समन्वय

कर्मसिद्धान्तका सामान्य परिचय देते हुये यहां यह बता देना आवश्यक है कि अव्यात्म-शास्त्र और कर्म-शास्त्रके प्रकृत विषयोंमें

कोई पारमार्थिक भेद नहीं है, जो अध्यात्म-शास्त्र कहता है वही कर्म-शास्त्र कहता है। अध्यात्म-शास्त्र भी बाह्याभ्यन्तर-जगतकी तात्त्विक-व्यवस्थाका परिचय देता है और कर्म-शास्त्र भी। अन्तर केवल इतना है कि अध्यात्म-शास्त्र केवल अनुभव-नाम्य अत्यन्त स्थूल बातोंका विवेचन कर पाता है जबकि कर्म-शास्त्र उन स्थूल तथ्योंके भीतर घुसकर उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सन्धियोंको पकड़ता है। समयसारमें भगवान् अमृतचन्द्र ने सूक्ष्म सन्धिको विभक्त करनेके लिये जिस प्रज्ञा छैनीका प्रयोग किया है अथवा जिसके प्रति संकेत दिया है उसका तात्पर्य वास्तवमें कर्म-रहस्य तथा कर्म-सिद्धान्त ही है अथवा यों कह लीजिए कि समयसार आदिक आध्यात्मिक शास्त्रोंमें कथित सूक्ष्म संकेतोंके रहस्य अथवा अर्थको समझनेके लिये कर्म-रहस्यका तथा कर्म-सिद्धान्तका अध्ययन अनिवार्य है।

१६. करणानुयोग

१. अन्य अनुयोग

जैन वाङ्मयके चार प्रधान विभाग हैं जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग । इन चारोंका नामोल्लेख आचार्योंने इसी क्रमसे किया है । इसलिये इनका अध्ययन भी इसी क्रमसे करना चाहिये । “क्रमका उल्लंघन करनेपर व्यक्ति को ज्ञानाभिमान हाथ आता है, जीवनोत्थान नहीं । जिस प्रकार एम० ए० का विषय मैट्रिकमें और मैट्रिकका विषय एम० ए० में पढ़ाया जाये तो विद्यार्थी शब्द के अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाता, उसके जीवनका विकास नहीं होता, उसी प्रकार यहां भी समझना । चार अनुयोगोंका यह क्रम जीवन-विकास को दृष्टिमें रखकर किया गया है ।

प्रथमानुयोगमें महापुरुषोंकी जीवनियां निबद्ध हैं, जो कथा तथा उपन्यासकी भांति रोचक होनेके साथ-साथ जीवनके लिये प्रेरक भी हैं । आत्म-कल्याणकी दृष्टिसे इसे पढ़नेवाले विद्यार्थीको जीवनकी प्रेरणायें मिलती हैं । जीवन-विकास के मार्गमें इन प्रेरणाओंका बहुत बड़ा मूल्य है, क्योंकि अन्तः प्रेरणाके बिना

किया गया अध्ययन केवल महंतताईके काम आता है। जीवन-विकासकी यह अन्तः प्रेरणा जागृत हो जानेपर ही उसके हृदयमें आभ्यन्तर-जीवन की और बाह्य-जगतकी पहेलीको समझनेकी भावना स्फुरित होती है।

‘जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्’ इस सूत्रका सार्थक्य इसमें ही है कि व्यक्ति बाह्याभ्यन्तर-जगतकी तात्त्विक-व्यवस्थाको समझे। सूत्रमें प्रयुक्त ‘जगत्’ शब्द बाह्य-जगतका वाचक है और ‘काय’ शब्द आभ्यन्तर-जगतका क्योंकि जैसाकि आगे बताया जायेगा तात्त्विक विचारणाके क्षेत्रमें ‘काय’ शब्द का अर्थ यह स्थूल शरीर न होकर अभ्यन्तरमें स्थित अत्यन्त सूक्ष्म वह कार्मण-शरीर होता है जिसमें कि जीवनकी सकल तात्त्विक-व्यवस्था गर्भित है। बाह्य-जगतके स्वभावको देखनेसे संवेग उत्पन्न होता है अर्थात् बाह्य-जगतसे भय लगने लगता है और इसके प्रतिका आकर्षण नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर कार्मण-शरीर के स्वभावको देखनेसे विषय-भोगसे विरक्ति हो जाती है। ये दोनों अंग जीवन के आध्यात्मिक विकासमें हेतु हैं।

२. प्रस्तुत ग्रन्थ

‘कर्म-रहस्य’ नामसे कर्म-सिद्धान्तका जो विवेचन वर्तमानमें मैं आपके हाथोंमें दे रहा हूँ वह वास्तवमें कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है बल्कि कर्म-सिद्धान्त नामक उस पहली कृतिका ही द्वितीय खण्ड है, जो कि इससे पहले प्रकाशमें आ चुकी है। कर्म-सिद्धान्त नामक पुस्तकमें प्राथमिक जनोंको दृष्टिमें रखकर कथन किया गया है जब कि इसमें कुछ परिपक्व विद्यार्थियोंको दृष्टिमें रखकर। अत्यन्त परिपक्वके लिये तो आचार्य-प्रणीत करणानुयोग ही प्रयोजनीय है। प्राथमिक जनोंके लिये रचा गया होनेसे ‘कर्म-सिद्धान्त’ नामवाले पूर्व प्रकाशित ग्रन्थका कथन कुछ स्थूल है, जबकि मध्यम श्रेणी

वालोंके लिये रचा गया होनेसे प्रस्तुत ग्रन्थका कथन उसकी अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है। मूल ग्रन्थोंका विवेचन इसकी अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म है।

जटिलता निवारण करनेके लिये इसकी पद्धति सर्वत्र आध्यात्मिक है जिसमें गणितका प्रयोग नहीं किया गया है। अथवा यह कह लीजिये कि कर्मके अध्यात्म-प्रधान इस विवेचनका अध्ययन कर लेनेके पश्चात् यदि आप इस विषयके मूल-शास्त्रोंका अध्ययन करेंगे तो उससे आपको सकल रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जायेगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह विषय आपको उतना ही रोचक लगेगा जितना कि 'शान्ति-पथ प्रदर्शन'का।

किसी अनुभवी गुरुकी शरण प्राप्त हो जाये तो इससे अच्छी बात नहीं, परन्तु यदि ऐसा सौभाग्य प्राप्त न हो तो अपनी स्थानीय गोष्ठी अथवा सत्संगतिमें ही इसका अध्ययन करें। पारस्परिक सहयोगसे इस रहस्यका उद्घाटन आपके प्रति हो जायेगा। इसका अध्ययन करनेके साथ-साथ आप संवेग तथा वैराग्यकी वृद्धिके अर्थ बाह्य तथा आभ्यन्तर जगतके स्वभावका चिन्तन भी अवश्य करते रहें जिससे कि इसका ज्ञान केवल बुद्धि तक सीमित न रहकर हृदयमें अथवा हार्दिक भावनाओंमें प्रवेश करता चला जाये। जीवनोत्थानका साक्षात् सम्बन्ध हृदयसे है बुद्धिसे नहीं। ●

१. कर्म सामान्य

इस सिद्धान्तका सर्व प्रथम प्रश्न है 'कर्म' । कर्म शब्दका सीधा-सादा अर्थ है 'कार्य' । यद्यपि व्यवहार-भूमिपर हाथ-पाँव आदिके द्वारा कुछ करना धरना कार्य कहा जाता है, जो केवल चेतन शरीरोंमें और प्रधानतः मनुष्योंमें ही देखनेको मिलता है, तदपि इस शब्दका सैद्धान्तिक अर्थ अत्यन्त व्यापक है । जड़ हो या चेतन, मनुष्य हो या कीट पतंग, सभी कुछ न कुछ करनेमें प्रवृत्त हैं । जड़ या चेतन कोई पदार्थ एक क्षणके लिये भी प्रवृत्ति-शून्य हो सके, यह सम्भव नहीं ।

“यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया, तत्त्रितयं भिन्नं न वस्तुतया ॥”

परमार्थ-प्रतिपादक इस सूत्रके अनुसार प्रत्येक पदार्थमें जो प्रतिक्षण नयी-नयी पर्याय उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती रहती हैं, वे पर्याय ही नवीन उत्पन्न होनेके कारण उस वस्तुके कार्य अथवा कर्म हैं । सहज स्वाभाविक रूपसे परिणमन करनेवाला पदार्थ स्वयं

अपनी पर्यायिका कर्ता है, उसकी पर्यायि या परिणाम उसका कर्म है और नित्य नूतन पर्यायिको प्राप्त करने तथा पुरातनको छोड़नेके प्रति नित्य धावमान रहना उसकी क्रिया है। इस प्रकार कर्ता, कर्म तथा क्रिया ये तीनों भले ही समझने तथा समझानेके लिये तीन कहे गये हों परन्तु वस्तुतः ये पृथक्-पृथक् कुछ न होकर एक हैं। केवल उस-उस रूपसे देखनेवाले हमारे विकल्पके कारण ही ये तीन प्रतीत हो रहे हैं।

लोक-प्रसिद्ध अर्थसे विपरीत कर्ता, कर्म आदिके इस विचित्र लक्षणको सुनकर चित्तमें यह शंका उदित हो जाना स्वाभाविक है कि जड़ तथा चेतन सभी वस्तुओंमें जो सहज रूपसे स्वयं हो रहा है ऐसे कर्मका त्याग कैसे किया जा सकता है। यदि नहीं किया जा सकता तो कर्मोंके त्यागकी बात शास्त्रोंमें क्यों की गयी है। शंका उचित है, परन्तु इसका अवस्थान उसी समय तक है जबतक कि आपको कर्मके भेद-प्रभेदोंका परिचय प्राप्त नहीं हो जाता।

कर्म वास्तवमें दो प्रकारका है—कृतक और अकृतक। मैं यह करूँ इत्याकारक संकल्प पूर्वक किया गया कर्म कृतक कहलाता है और इस प्रकारके संकल्पसे निरपेक्ष जो स्वतः होता है, वह अकृतक कहा जाता है। लोकमें जितने कुछ भी कार्य या कर्म हमें दिखाई देते हैं, वे सब संकल्प-पूर्वक किये गये होनेसे कृतक हैं। इसीके त्यागका उपदेश शास्त्रोंमें किया गया है, सहज रूपसे होनेवाले अकृतक कर्मके त्यागका नहीं।

२. त्रिविध कृतक कर्म

‘मैं यह काम करूँ’ इस प्रकारके संकल्प-पूर्वक जो काम किया जाता है वह कृतक कहलाता है, जो तीन प्रकारका हो सकता है—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व। ‘मैं यह जानूँ’ इस प्रकारके संकल्पसे

किया गया काम ज्ञातृत्व है, 'मैं यह काम करूँ' इस प्रकार के संकल्पसे किया गया काम कर्तृत्व है और 'मैं यह भोगूँ' ऐसे संकल्पसे किया गया काम भोक्तृत्व है। तीनोंके अनेकों अवान्तर भेद हैं। इन्द्रियोंके द्वारा देख-सुनकर जानना, अथवा सूँघ चखकर जानना, मन बुद्धि आदिके द्वारा मनन चिन्तन करके जानना अथवा निर्णय करना, समझना, ये सब काम ज्ञातृत्वके अन्तर्गत हैं। हाथ-पाँव आदिसे उठाना-धरना, बनाना-बिगाड़ना, चलना-फिरना, उछलना-कूदना, बैठना-लेटना अथवा वचनके द्वारा बोलना पढ़ाना समझाना, ये सब काम कर्तृत्वके अन्तर्गत हैं। ज्ञातृत्वमें केवल जानना होता है, हिलना डुलना या भागना-दौड़ना नहीं, जबकि कर्तृत्वमें हिलना डुलता या भागना-दौड़ना होता है, जानना नहीं।

जाने गये अथवा किये गये किसी विषयके साथ तन्मय होकर उसमें रस लेना, दुःख-सुख महसूस करना अथवा जानते तथा करते समय हर्ष-विषादका अनुभव करना भोक्तृत्व कहलाता है। तन्मय होकर आसक्ति-पूर्वक किसी रूपको निहारना, स्वादिष्ट पदार्थोंके साथ तन्मय होकर उनका रस लेना, स्त्री आदिका स्पर्श करना अथवा मनमें इन विषयोंका स्मरण-चिन्तन करना, ये सब भोक्तृत्वमें गभित हैं। इसी प्रकार अपने द्वारा बनाये गये या अपने लिये बनवाये गये घर, फ़र्नीचर, बर्तन, आभूषण, उपकरण, आदिमें 'ये मेरे हैं' ऐसा स्वामित्व भाव करना भोक्तृत्व है। इसी प्रकार 'देखो मैंने यह काम कितना अच्छा किया है', 'मैंने यह कविता कितनी सुन्दर बनाई है', 'मैंने यह पुस्तक कितने मर्नकी लिखी है', 'मैं कितना तेज दौड़ सकता हूँ', 'मेरा भाषण कितना सुन्दर होता है', 'मैं कितना अच्छा गा-बजा सकता हूँ', इत्यादि प्रकारसे शरीरके तथा वचनके द्वारा किये गये सकल कार्यों में गर्वकी प्रतीति करना भोक्तृत्व है।

जिस प्रकार इन सकल विषयोंमें हर्ष अथवा सुखकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार इनसे विपरीत अनिष्ट विषयोंमें विषाद अथवा दुःखकी प्रतीति होती है। इष्ट विषयोंमें हर्ष तथा सुखकी और अनिष्ट विषयोंमें विषाद अथवा दुःख की प्रतीति होना भोक्तृत्व है। जिस प्रकार वर्तमान-प्राप्त इष्टानिष्ट विषयोंको भोगते समय हर्ष-विषाद अथवा सुख दुःखकी प्रतीति होती है उसी प्रकार गतकालमें भोग लिए गए इष्टानिष्ट विषयोंका स्मरण करनेमें भी हर्ष विषादकी अथवा सुख-दुःखकी प्रतीति होती है, और 'आगामी कालमें प्राप्त होने सम्भव हैं' ऐसी इष्टानिष्ट भावी सम्भावनाकी कल्पनामें भी होती है। इसप्रकार इष्टानिष्ट विषयों से सम्बन्धित वर्तमानका पत्यक्ष, भूतका स्मरण और भविष्यत्की कल्पना करनेमें जी हर्ष-विषादकी अथवा सुख-दुःखकी प्रतीति होती है वह सब भोक्तृत्व कहलाता है।

संकल्प पूर्वक किए जानेसे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ये सकल कार्य या कर्म कृतक कहलाते हैं, और इस कारण ये ही बन्धनकारी होते हैं, सहज होनेके कारण अकृतक कर्म नहीं। ●

१८—कर्म-करण

१. त्रिविध करण

कृतक कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व । कारण अथवा करणके बिना कोई भी कार्य होना सम्भव नहीं, इसलिए इन तीनों कार्यों के कोई न कोई कारण अथवा करण अवश्य होने चाहिए । आइये उनका अन्वेषण करें । जिसके द्वारा अथवा जिसकी सहायता से कोई कर्म या कार्य किया जाता है उसे करण कहते हैं । व्याकरण में इसका अन्तर्भाव करण-कारक में होता है, न्याय की भाषा में इसे हेतु कहते हैं और सिद्धान्त की भाषा में यह 'साधन' के नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार कारण, करण, हेतु तथा साधन ये चारों एकार्थवाची संज्ञायें हैं ।

त्रिविध कर्म के क्षेत्र में उपर्युक्त करण दो प्रकार का है—बहिर्करण तथा अन्तष्करण । बाहर में जिनका प्रत्यक्ष होता है ऐसे नेत्र-श्रोत्र, हाथ-पांव आदि बहिर्करण हैं और बाहर में जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है ऐसा चित्त अन्तष्करण है । बहिर्करण के दो विभाग हैं, ज्ञानकरण और कर्मकरण । ज्ञातृत्व के साधन को

ज्ञानकरण कहते हैं और कर्तृत्व के साधन को कर्मकरण। भोक्तृत्व का साधन अन्तर्करण है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

२. ज्ञानकरण तथा कर्मकरण

ज्ञानकरण पांच प्रसिद्ध हैं—त्वक्, जिह्वा, घ्राण, नेत्र तथा श्रोत्र। छूकर जानना, चखकर जानना, सूँघकर जानना, देखकर जानना और सुनकर जानना, ये पांच इनके प्रतिनियम विषय हैं। क्योंकि इनके द्वारा जाननेके ही काम की सिद्धि होती है, हलन डुलन रूप से कुछ क्रिया करने की नहीं, इसलिये इन्हें ज्ञानकरण कहते हैं।

ज्ञान-करण की भांति कर्म-करण भी पांच हैं—हाथ, पांव, जिह्वा, गुदा और उपस्थ। हाथ के द्वारा हम लेने-देने का, उठाने-घरने का तथा बनाने-बिगाड़ने आदि का काम करते हैं और पांव के द्वारा चलने-फिरने, उछलने-कूदने तथा भागने-दौड़ने का। जिह्वा के दो काम हैं चखकर जानना और बोलना। चखकर जानने वाली जिह्वा को शाखाओं में रसना कहा गया है, जिसका ग्रहण ज्ञानकरण के अन्तर्गत किया जा चुका है। बोलने का काम करते समय जिह्वा को हम वागेन्द्रिय कह सकते हैं। कर्म-करण में जिह्वा के इसी पक्ष का ग्रहण होता है चखने वाले पक्ष का नहीं। गुदा से हम मल-त्याग का काम करते हैं। उपस्थ गुह्येन्द्रिय को कहते हैं। इसके दो काम हैं—मूत्र का त्याग करना और सांसारिक विषय भोग करना। क्योंकि इन पांचों के द्वारा किसी न किसी रूप में हलन डुलन रूप क्रिया कि सिद्धि होती है, कुछ जानने की नहीं, इसलिये इन्हें कर्मकरण कहते हैं।

‘इन्द्र’ शब्द आत्मा के अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है। इन करणोंके द्वारा क्योंकि शरीरमें स्थित आत्मा अथवा चेतना-शक्तिकी

सिद्धि होती है, इसलिये ये इन्द्रके लिंग हैं। लिंगपर से लिंगीको जानना अनुमान ज्ञानका लक्षण है, जिसका उल्लेख न्याय-शास्त्रमें उपलब्ध होता है। इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंग होनेसे शास्त्रमें इन करणोंको इन्द्रिय कहा गया है। इसलिये ज्ञानकरणको हम ज्ञानेन्द्रिय कह सकते हैं और कर्मकरणको कर्मेन्द्रिय। यद्यपि शरीरके अंग होनेके कारण कर्मेन्द्रियोंका पृथक् उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं है तदपि प्रकरणवशात् यहां उनका पृथक्से उल्लेख करना न्याय-विरुद्ध नहीं है।

३. भोगकरण

ये दसों इन्द्रियां जाने गये, अथवा किये गए अपने-अपने प्रति-नियत विषयको अथवा क्रियाको जानने तथा करनेके साथ-साथ उनके प्रति तन्मय होकर रसास्वादन भी करती प्रतीत होती हैं। नेत्र अपने प्रति उपस्थित हुये रूपको जाननेके साथ-साथ उसके प्रति तन्मय होकर निहारती प्रतीत होती हैं, हाथ किसी पदार्थको पकड़नेके साथ-साथ उसके प्रति तन्मय होकर उसकी कोमलता कठोरता आदिका स्पर्श करता प्रतीत होता है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर भोगनेका कार्य बहिर्करण रूप दस इन्द्रियोंका नहीं है, बल्कि अन्तष्करणका है।

ज्ञानेन्द्रियोंमें रसना घ्राण तथा स्पर्शन और कर्मेन्द्रियोंमें उपस्थ ये चार इन्द्रियां यद्यपि व्यवहार भूमिपर भोगेन्द्रियां मानी गयी हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर ये चारों तथा इनके साथ अन्य छः भी इन्द्रियां वास्तवमें ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्वके प्रति ही करण हैं, भोवतृत्वके प्रति नहीं। ये यद्यपि भोगके साधन अवश्य हैं परन्तु इनकी सहायतासे भोगनेवाला अन्तष्करण ही है।

४. अन्तष्करण

नेत्र आदिक इन्द्रियोंकी भांति बाहरमें प्रत्यक्ष न होनेके कारण अन्तष्करणको शास्त्रोंमें अनिन्द्रिय अथवा ईषत्-इन्द्रिय कहा गया है,

परन्तु वास्तव में देखा जाय तो बहिर्करण रूप दसों इन्द्रियों की शासक होने के कारण यही प्रधान इन्द्रिय है । ज्ञानकरणके द्वारा ग्रहण किया गया अथवा जाना गया प्रत्येक विषय और कर्मकरण द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य भोगनेके लिये इसे ही प्राप्त होता है । इसकी प्रेरणा से ही वे अपने-अपने कार्य में नियोजित होते हैं । इसके उठनेपर वे उठ जाते हैं और इसके सोने पर वे सो जाते हैं । इसके क्रियाशील होनेपर वे सब क्रियाशील हो उठते हैं और इसके शान्त होने पर वे सब शान्त हो जाते हैं । इन्द्रियां इसकी आज्ञा-कारिणी सेविकायें मात्र हैं ।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियें पांच-पांच हैं इसी प्रकार अनिन्द्रिय या अन्तष्करण के भी चार विभाग हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार । यद्यपि इन चारों में से किसी भी एक शब्द के कहने पर प्रायः इन चारोंसे समवेत पूरे अन्तष्करण का ग्रहण हो जाता है तदपि यहां उसका विशेष स्वरूप दर्शाना इष्ट होनेसे उसे चार भागों में विभाजित करके बताया जा रहा है । दर्शन-खण्डमें चित्त शब्द के द्वारा जिसका विस्तृत विवेचन किया गया है वह भी वास्तव में अकेला चित्त न होकर इन चारोंसे समवेत पूरा अन्तष्करण है । शास्त्रों में इसके लिये 'मन' शब्द का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है । अन्य तीन शब्दों का प्रयोग वहां अत्यन्त विरल है । इसलिये इन चारों में क्या अन्तर है यह विवेक वहां हो नहीं पाता । आइये इन चारोंकी कार्यवाही का थोड़ा सा अध्ययन करें ।

५. ग्राम्यन्तर शासन

अन्तष्करण की शासन-व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक तथा परिपूर्ण है । क्या मजाल कि इसकी प्रजा अर्थात् इन्द्रियां इसके प्रति तनिक सी भी कोई बेईमानी कर सकें । मन आदि चारों के पास अपना-अपना अक्षय कोश है जिसके आधार पर वे अपने-अपने शासन की

व्यवस्था करते हैं। दसों इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन की स्वामिनी बुद्धि है। बुद्धि का स्वामी चित्त है और चित्त का अहंकार। दूसरे प्रकार से कहें तो अहंकार राजा है, चित्त उसका मित्र है और बुद्धि प्रधान-मन्त्री। मन इन दोनों मन्त्रियों का सेक्रेटरी है। इन्द्रियां उनके अधीन विभिन्न विभागोंकी अधिकारिणी हैं।

मनका काम मनन करना है, बुद्धिका काम सत्य असत्य का विवेक करना है, चित्त का काम भूत-भावी की चिन्ता करना और अहंकार का काम अपने इष्ट विषय को भोगना है; अथवा मैं-मेरा तू-तेरा आदिकी मोहरें लगाकर उन विषयों पर अपना स्वामित्व स्थापित करना है। इनका विशद स्पष्टीकरण इन चारों की कार्यव्राहीका अध्ययन करने से हो जायेगा।

स्वामी-भक्त सेविकाओं की भांति ज्ञानेन्द्रियें अपने-अपने प्रति-नियत विषय को ग्रहण करके उसे अपने स्वामी मन के प्रति हस्तान्तरित कर देती हैं। इस विषय के प्राप्त होने पर क्या, क्यों, कैसे आदिके अनेकों विकल्प उठाकर वह उसका सर्व ओरसे निरीक्षण तथा परीक्षण करता है। यही उसका मनन कहलाता है। मनन कर चुकनेपर वह उसे चित्तकी प्रयोग-शालामें भेज देता है। वह भूतकी स्मृतियोंके साथ तथा भावीकी सम्भावनाओंके साथ मिलान करनेके लिये उसे कसौटी पर कसता है। आगे जानेपर यह कदाचित् मेरे मित्र अहंकारको हानि तो नहीं पहुँचायेगा, अथवा जितना लाभ उसे पहुँचाना चाहिये उससे कुछ कम तो नहीं करेगा। नहीं नहीं ऐसा कुछ होनेवाला नहीं है, लाभ ही होगा, हानि नहीं, इत्यादि।

अपना काम कर चुकनेपर चित्त उसे अपने मित्र अहंकारकी भोगशालामें भेज देता है। मैं-मेरा, तू-तेरा, इष्ट-अनिष्ट आदि रूप इन्द्रोंकी मुद्रासे अंकित करके यह उसे अन्तिम निर्णयके लिये अपने

मन्त्री बुद्धिकी न्यायशालामें भेजता है। मन तथा चित्तके द्वारा किये गये परीक्षणका और अहंकारके द्वारा अंकित की गयी मुद्राओंका पुनरपि सूक्ष्म निरीक्षण तथा परीक्षण करके वह 'यह विषय ग्राह्य है अथवा त्याज्य है, कर्तव्य है अथवा अकर्तव्य है' ऐसा निर्णय सुना देती है।

बुद्धि के इस निर्णयको सुनकर अहंकार यदि उसे अनुकूल पाता है तो हर्षित हो जाता है और यदि प्रतिकूल पाता है तो उदास हो जाता है। हर्षित अवस्थामें उत्साहके साथ और उदास अवस्थामें कुछ अनमने भावसे वह बुद्धिकी उस आज्ञाको चित्तके प्रति प्रदान करता है जिसे प्राप्त करके वह भी अहंकारकी ही भाँति हर्षित अथवा उदास होकर आगा-पीछा देखने लगता है, और उसे समुचित कार्यवाहीके लिये मनके पास भेज देता है।

तदनुसार मन कर्मेन्द्रियोंको आज्ञा करता है कि तुरत इस विषयको बन्दो बनाकर मेरे दरबारमें उपस्थित करो, अथवा इसे यहाँसे हटाकर सागरमें डुबा आओ, अथवा इसमें कुछ इस प्रकारका परिवर्तन करो इत्यादि। अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर हाथ पाँव आदि सभी कर्मेन्द्रियें निर्विलम्ब अपने-अपने काममें जुट जाती हैं और उस समय तक अथक परिश्रम करती रहती हैं जबतक कि अपने स्वामी मनको सन्तुष्ट न कर लें। इनके कार्यसे सन्तुष्ट होकर मन अहंकारके माध्यमसे बुद्धिके प्रति इनको सिफारिश करता है। बुद्धि प्रसन्न होकर अपने इन सभी सामन्तोंको अनेकानेक सम्माननीय पदोंसे विभूषित करती है, जिसके कारण ये उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उसकी सेवामें इस प्रकार जुटी रहती हैं कि उन्हें यह भी सोचनेको अवकाश नहीं मिलता कि हम क्या कर रही हैं और क्यों कर रही हैं।

इन्की इस मूर्खतापर मन ही मन मुस्कुराते हुए गुरुदेव यद्यपि सदा अपनी ओरसे इन्हें सावधान करते रहते हैं परन्तु जानने

करने तथा भोगनेकी घुनमें लगे इनको उनकी बात या तो सुनाई नहीं देती, और यदि कदाचित् सुनाई भी देती है तो वह इन्हें भाती नहीं है। कदाचित् काल-लब्धिवश किसी एक व्यक्तिके चित्तको उनकी बात स्पर्श कर जाए तो वह चिन्तामें पड़ जाता है, उसके विकल्पों की दिशा बदलकर नीचेसे ऊपरकी ओर हो जाती है। चित्तके बदल जानेपर मन बदल जाता है, मन बदल जानेपर अहंकार और अहंकार बदल जानेपर बुद्धि भी बदल जाती है। उनके बदल जानेपर उनके परीक्षण निरीक्षण तथा आज्ञाकरणकी सकल गतिविधियां बदल जाती है। फलस्वरूप ज्ञानकरण तथा कर्मकरणकी सकल वृत्तियां बाहरसे हटकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। बाह्य-जगत्के विषयोंको जानने करने तथा भोगनेकी बजाय अब वे अन्तर्जगत्में स्थित तत्त्वोंको जानने, प्राप्त करने, तथा भोगनेके प्रति उन्मुख हो जाती हैं।

अन्तर्करणके बहिर्मुख होनेपर ही ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व बन्धनकारी हैं, उसके अन्तर्मुख हो जाने पर नहीं।

१. चेतना-शक्तिका उपयुक्तिकरण

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ऐसे त्रिविध कर्मकी बात कही गयी। संकल्प-पूर्वक होनेसे ये सब कर्म कृतक कहलाते हैं। पांच ज्ञानकरण, पांच कर्मकरण और चार अन्तष्करण इन चौदह करणोंकी अपेक्षा यद्यपि वह चौदह भागोंमें विभाजित करके दर्शाया गया है, तदपि इन सबकी पृष्ठभूमिमें विराजित चेतना नामकी प्रसिद्ध शक्ति जो अपने संकल्पके द्वारा इन सबको अपने-अपने कार्योंके प्रति नियोजित करती है, वह चौदह प्रकारकी न होकर एक है। जिस करणके प्रति यह शक्ति उपयुक्त होती है वह करण ही काम करता है, उसके अतिरिक्त अन्य सब उस समय निश्चेष्ट रहते हैं। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे देखनेपर सभी करण युगपत् काम करते प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। चपला अर्थात् बिजलीकी भांति शीघ्रताके साथ चौदह करणोंमें उपयुक्त होती रहनेके कारण यह एक ही शक्ति चौदह रूप हुई दिखती है। वास्तवमें एक समयमें वह एक ही करणके प्रति उपयुक्त होती है और एक ही करण उस समय काम करता है, सब नहीं।

इस विषयमें हम टार्चका दृष्टान्त दे सकते हैं। टार्चमें जो बल्ब लगा होता है उसे यदि टार्चसे निकालकर कमरेमें खुला लटका दिया जाये तो उसके प्रकाशमें कमरेकी सारी वस्तुयें दिखाई दे सकती हैं। परन्तु टार्चके द्वारा उसके प्रकाशको किसी एक वस्तुपर फोकस कर देने पर केवल वही वस्तु दिखाई देती है, अन्य नहीं। इसीप्रकार यदि इस चेतना शक्तिको चौदह करणोंकी परिधिसे बाहर निकालकर खुले आकाशमें स्थापित कर दिया जाये तो यह समग्र विश्वको युगपत् प्रकाशित कर देनेके लिये, ग्रहणकर लेनेके लिए अथवा आत्मसात् करके भोग लेनेके लिए समर्थ है। परन्तु संकल्प स्थानीय टार्चके द्वारा इसे किसी एक विषयके प्रति उपयुक्त कर देने पर केवल वही एक विषय जाना या किया जाता है, अन्य नहीं।

करणोंके प्रति चेतना-शक्तिका यह उपयुक्तिकरण दो प्रकारका माना गया है—कर्तृत्व पक्षमें योगके रूपमें और ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व पक्षमें उपयोगके रूपमें। कर्तृत्वमें जिस प्रकार हलन-डुलन रूप क्रिया प्रधान होती है उस प्रकारसे ज्ञातृत्वमें नहीं होती। इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत विषयोंकी प्रतीति ही इस पक्षमें प्रधान है। इसलिये इन दोनों पक्षोंमें जातिभेद प्रत्यक्ष है। ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व पक्षमें इस प्रकारका कोई जाति-भेद नहीं है। जिस प्रकार ज्ञातृत्व पक्षमें विषयकी प्रतीति प्रधान है कर्तृत्व नहीं, उसी प्रकार भोक्तृत्व पक्षमें भी किसी विषयको आत्मसात् करके तज्जनित हर्ष विषादकी अथवा सुख दुःखकी प्रतीति ही प्रधान होती है कर्तृत्व नहीं।

२. चेतनाका एकत्व

इसका तात्पर्य यह है कि चेतना शक्ति दो न होकर एक है। ऐसा नहीं है कि ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व पक्षमें विषयोंकी तथा सुख-दुःखकी प्रतीति करनेवाली चेतना तो कोई अन्य हो और करने-धरने वाली चेतना कोई अन्य हो। एक ही चेतना दो काम

करती है। जानने अथवा भोगनेके समय वह विषयकी अथवा दुःख-सुख की प्रतीति करती है और करनेके समय वह हलन-डुलन रूप कार्यमें प्रवृत्त होती है। विषय की अथवा सुख-दुःखकी प्रतीति करते समय वह 'उपयोग' कहलाती है और हलन-डुलन रूप कार्यमें प्रवृत्त होते समय 'योग'। वास्तवमें ये दो शास्त्रीय संज्ञायें हैं जो उसकी द्विविध शक्तिके प्रति संकेत करती हैं।

चेतना एक सामान्य शक्ति है जिसे प्रायः ज्योतिके साथ उपमित किया जाता है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें ज्योति और उसके साथ-साथ गति देखी जाती है, उसी प्रकार चेतनामें ज्ञान और उसके साथ-साथ क्रिया देखी जाती है। यही कारण है कि संस्कृतमें जितनी गत्यर्थक धातुएँ हैं वे सब ज्ञानार्थक भी मानी गयी हैं, जैसे अवगम, अधिगम, आगम, निगम आदि सब गत्यर्थक शब्द ज्ञानके वाचक हैं। 'मेरी इस विषयमें अच्छी गति है' ऐसा प्रयोग भी ज्ञानके विषयमें ही होता है।

इस प्रकार चेतनामें दो शक्तियां हैं—ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति। ज्ञानके प्रति उपयुक्त होने पर वह 'उपयोग' कहलाती है और क्रियाके प्रति उपयुक्त होने पर 'योग'। गति-युक्त होनेके कारण यद्यपि ज्ञानात्मक उपयोग भी स्वयं एक क्रिया है तदपि योग शब्दके द्वारा जिस क्रियाका उल्लेख करना यहां इष्ट है वह हलन-डुलन रूप अथवा स्थानसे स्थानान्तर होने रूप होती है, जब कि उपयोगकी क्रिया विषयसे विषयान्तर होने रूप होती है। इसलिये दोनों क्रियाओं में जाति-भेद है।

३. उपयोग

उपयोग संज्ञावाली ज्ञानात्मक क्रिया दो प्रकारकी होती है—ज्ञान तथा दर्शन। ज्ञानमें अहम् इदं का द्वैत होता है जबकि दर्शनमें नहीं होता। ज्ञानेन्द्रियोंके माध्यमसे जब चेतना बाह्य जगत्के

विषयोंसे प्रतिबिम्बित हुई प्रतीत होती है, अथवा अन्तष्करणके माध्यमसे जब वह अपनेको अहं और इदं के रूपमें द्विधा विभक्त करती हुई प्रतीत होती है, तब वह ज्ञान कहलाती है। दोनों ही दशाओंमें वह विषयाकार हो जाती है। अन्तर केवल इतना है कि पहलीका विषय बाहरमें है और दूसरीका विषय भीतरमें अर्थात् चित्तके अक्षय-कोषमें। बाह्य विषयसे हो या आभ्यन्तर विषयसे, चेतनाका विषयाकार हो जाना ही 'ज्ञान' का लक्षण है।

दूसरी ओर चेतना जब एक इन्द्रियका अवलम्बन छोड़कर दूसरी इन्द्रिय का अवलम्बन लेनेके लिये अपना उपयोग बदलती है तब एक क्षणके लिये वह निर्विषय हो जाती है। पहली इन्द्रियका विषय छूट गया है और दूसरीका अभी पकड़ा नहीं है। इस मध्यवर्ती क्षणमें वह निर्विषय है। इसी प्रकार ध्यान समाधिकी साधनाके द्वारा भी चेतनको निर्विषय किया जा सकता है। किसी भी प्रकार क्यों न हो चेतना जिस समय निर्विषय होती है उस समय हम उसके उपयोगको 'दर्शन' नाम देते हैं।

भोक्तृत्व पक्षमें क्योंकि चेतना गृहीत विषयके साथ तन्मय हो जाती है, अहम् इदं के भेदकी प्रतीति उस समय होती नहीं है, केवल रसानुभूति होती है, इसलिये दर्शनोपयोग ही इस पक्षमें प्रधान है। बाह्य विषयोंका भोग वास्तवमें उदाहरण है। यहाँ भले ही स्थूल रूपसे अहम् इदं की प्रतीति न होती हो तदपि किसी न किसी रूपमें वह होती अवश्य है। इसलिये बाह्य विषयों का भोक्तृत्व ज्ञानोपयोगमें गर्भित है, दर्शनोपयोगमें नहीं।

दर्शनोपयोग इसकी अपेक्षा बहुत सूक्ष्म है। उसमें न तो किसी बाह्य विषय का आकार प्रतिबिम्बित होता है, न किसी आभ्यन्तर विषय का और न ही किसी कल्पनाका। निर्विषय तथा शून्य चिज्ज्योति ही उस समय प्रतीति का विषय बनती है। विषय बनती

है यह केवल समझानेके लिये कहा गया है, वास्तवमें वहां विषय-विषयीका कोई भेद नहीं है।

विषयाकार होनेके कारण ज्ञान साकार होता है, जबकि निर्विषय होनेके कारण दर्शन निराकार है। विषयसे विषयान्तर होनेके कारण ज्ञान सविकल्प है, जबकि इससे निरपेक्ष होनेके कारण दर्शन निर्विकल्प है। काला पीला आदि विशेषोंकी प्रतीतिसे युक्त होनेके कारण ज्ञान सविशेष है जबकि निर्विषय होनेके कारण दर्शन निर्विशेष है। अहम् इदं के रूपमें विषयको अपने से पृथक् स्थापित करके देखनेके कारण ज्ञान बहिर्चित्प्रकाश है और केवल चिज्ज्योति मात्रकी अद्वैत प्रतीति होनेके कारण दर्शन अन्तर्चित्प्रकाश है। आत्माका शुद्ध-स्वरूप क्योंकि चिन्मात्र है, इसलिये दर्शनोपयोग ही वास्तवमें आत्मदर्शन या आत्मानुभूति है। भोक्तृत्व पक्षमें यही आत्माका भोग है। ध्यान की अवस्थामें 'मैं आत्माका दर्शन कर रहा हूँ' इत्याकारक जो आत्मदर्शन होता है, वह आत्मदर्शन नहीं बल्कि उसकी कल्पना है और इसलिये वह ज्ञानोपयोग है, दर्शनोपयोग नहीं।

४. योग

यद्यपि प्रसंगवशात् उपयोगका कथन कर दिया है तदपि कर्म तथा क्रिया के पक्षमें योग ही प्रधान है उपयोग नहीं। उपयोग इसकी पृष्ठभूमिमें रहता है। ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्वका ग्रहण भी यहां कर्मके रूपमें किया गया है, जानने मात्रके अथवा आत्मानुभवके रूपमें नहीं। समग्रको युगपत् जानना तथा आत्मा का अनुभव करना भी यद्यपि ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व हैं, तदपि कर्मके प्रकरणमें जिस ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्वका ग्रहण किया गया है वह क्रिया रूप अर्थात् प्रवृत्तिरूप है। समग्रमें ध्वार्यट लगाकर जानना ज्ञातृत्वमात्र न होकर ज्ञातृत्व क्रिया है क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानमें विषय-

संक्रान्ति स्वाभाविक है। इसी प्रकार समग्रमें इष्टानिष्टका द्वैत करके ग्रहण-त्याग करना भी भोक्तृत्व मात्र न होकर भोक्तृत्व क्रिया है। कर्तृत्व की भांति ये दोनों क्रियायें भी वास्तवमें प्रवृत्तिरूप हैं इसलिये इनमें योगकी प्रधानता है। 'योग' शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ दो पदार्थोंका पारस्परिक जुड़ान है। उक्त तीनों कार्यों में क्योंकि चेतनाका जुड़ान करणोंके साथ होता है इसलिये 'योग' कहा जाता है। इस शब्दका सैद्धान्तिक लक्षण क्रिया अथवा परिस्पन्दन है। उपयोगका एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयके प्रति धावमान होना ज्ञातृत्व पक्षकी क्रिया है, इष्ट विषयको ग्रहण करके अनिष्ट विषयका त्याग करना भोक्तृत्व पक्षकी क्रिया है और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा काम करना कर्तृत्व पक्षकी क्रिया है।

नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ क्योंकि पूर्व-पूर्व विषयको छोड़कर उत्तर-उत्तर विषयकी ओर दौड़ती रहती हैं इसलिये क्रियारत हैं। चित्त नामसे अन्तष्करणकी भागदौड़का चित्रण पहले कर दिया गया है, इसलिये वह भी क्रियारत है। हाथ पाँव आदि कर्मेन्द्रियोंका लक्षण क्रिया करना है, इसलिये वे भी क्रियारत हैं। इस प्रकार तीनों ही करण क्रियारत हैं। इन तीनोंकी क्रिया 'योग' कहलाती है।

ये सब तो इनकी स्थूल क्रिया हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर इसका अर्थ परिस्पन्दन मात्र है। जब हम किसी वस्तुको जाननेका अथवा करनेका अथवा भोगनेका संकल्प करते हैं, उस समय हम अपनी चेतना शक्तिको प्राण वायुके साथ युक्त करते हैं। उसकी प्रेरणासे प्राणवायु नस-नसमें तथा मांस-पेशियोंमें दबाव उत्पन्न कर देती है। यह दबाव उस करणमें विशेष होता है जिसमें कि वह क्रिया करनी इष्ट होती है। परिणाम-स्वरूप नसोंमें तथा मांसके पट्टोंमें कठोरता आ जाती है और उसके योगसे वह अंग अपने प्रतिनियत कार्यमें नियुक्त हो जाता है। शरीरके किसी अंगमें पीड़ा होनेपर जो लहर

सी अथवा sensation सी प्रतीत होती है वह भी वास्तवमें चेतनाका परिस्पन्दन है। विस्तारके लिये यहाँ अवकाश नहीं है।

समग्रको युगपत् न जानकर प्वायंट लगाकर जानना ज्ञातृत्व पक्षका योग है, क्योंकि उसमें उपयोग एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयकी तरफ़ दौड़ता है। समग्रको युगपत् आत्मसात् न करके प्वायंट लगाकर आत्मसात् करना भोक्तृत्व पक्षका योग है, क्योंकि ज्ञातृत्व पक्षकी भाँति यहाँ भी उपयोग एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयकी ओर दौड़ता है। इसीप्रकार समता पूर्वक समग्रके प्रति काम न करके किसी एकके प्रति काम करना कर्तृत्व पक्षका योग है। प्वायंट लगाना क्योंकि अन्तष्करण अथवा संकल्पका काम है, इसलिये अन्तष्करणके जीवित रहनेपर ही ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व ये तीनों बन्धनकारी हैं, उसके मर जाने पर नहीं।

☆ “अपने रागद्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं” जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है उसके मन में समता उत्पन्न होती है उससे उसकी वासनाएं और लृष्णायें प्रक्षीण हो जाती हैं।

☆ तपस्या से व्यक्ति पूर्व संचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त करता है।

२०. योग-विधान

१. त्रिकरण

करणोंके माध्यमसे चेतना शक्तिका क्षुब्ध, चञ्चल, स्पन्दित अथवा क्रियाशील हो उठना उसका 'योग' कहलाता है। यद्यपि सामान्य रूपसे देखनेपर उसकी चञ्चलता अथवा स्पन्दन ही योगका लक्षण है और वह एक ही प्रकारका है, परन्तु क्रिया अथवा कर्मकी अपेक्षा देखनेपर वह तीन प्रकारका है—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व। जिस प्रकार क्रियाकी अपेक्षा यह तीन प्रकारका है, उसी प्रकार करणोंकी अपेक्षा देखनेपर भी वह तीन प्रकारका माना गया है। यद्यपि त्रिविध क्रिया या कर्मके कारण सामान्य रूपसे बहिर्करण और अन्तर्करण ये दो कहे गये हैं, और विशेष रूपसे चौदह, तदपि उन सबका अन्तर्भाव तीनमें हो जाता है—मन, वचन तथा काय।

मन कहनेसे मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चारोंसे समवेत पूरे अन्तर्करणका ग्रहण हो जाता है। वचन कहनेसे जिह्वाके वागिन्द्रिय वाले पक्षका और काय कहनेसे इसके अतिरिक्त शेष चार कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण होता है। ज्ञानेन्द्रियोंका अन्तर्भाव मनवाले

विभागमें हो जाता है, क्योंकि इनके द्वारा ग्रहण किये गये अथवा जाने गये विषयमें ही उसकी मनन चिन्तन रूप प्रवृत्ति होती है। ये तीनों ही करण दो-दो रूपमें देखे जा सकते हैं, द्रव्यरूपमें तथा भावरूपमें। परमाणुओंसे निर्मित नेत्रगोलक आदि द्रव्यकरण हैं और इनके प्रति चेतना-शक्तिका ज्ञानात्मक अथवा क्रियात्मक जो उपयुक्तिकरण होता है वह भावकरण है। द्रव्यकरण तथा भावकरण ये दोनों ही मन, वचन तथा कायके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हैं—द्रव्यमन, द्रव्यवचन, द्रव्यकाय और भावमन, भाववचन, भावकाय। इन तीनोंका कथन पृथक्-पृथक् करता हूँ।

२. मन

मन कहनेसे ज्ञानेन्द्रियों सहित पूरे अन्तष्करणका ग्रहण होता है। इसालये मनसे पहले ज्ञानेन्द्रियोंका विचार करते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकारकी मानी गयी हैं—द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ। परमाणुओंसे निर्मित नेत्रगोलक आदि द्रव्येन्द्रियाँ हैं और इनकी पृष्ठ-भूमिमें अवस्थित देखने सुनने आदिकी चेतना शक्ति भावेन्द्रिय है, जिसका उल्लेख इससे पहलेवाले अधिकारमें ज्ञानोपयोगके नामसे किया गया है।

मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन। इस शरीरके भीतर हृदयस्थानपर सूक्ष्म प्राणवाहिनी नाड़ियोंकी एक अष्टदल-कमलके आकारवाली ग्रन्थि है। योगदर्शनके आचार्य इसे अनाहत-चक्र कहते हैं। यही जैनाचार्योंका अभिप्रेत द्रव्यमन है। भावेन्द्रियकी भाँति इसकी पृष्ठभूमिमें स्थित संकल्प विकल्प करनेकी अथवा मनन करनेकी वह चेतना शक्ति भावमनका स्वरूप है जिसका विशद विवेचन कर्म-करणवाले अधिकारमें किया गया है। परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण अष्टदल-कमलवाला उक्त चक्र द्रव्यमन है और चेतना का उपयोग होनेके कारण संकल्पन अथवा मनन शक्ति भावमन है।

जिस प्रकार मनके विषयमें कहा गया है उसी प्रकार अन्तःकरणके अन्य तीन अंगोंके विषयमें भी कहा जा सकता है। दोनों भृकुटियोंके मध्यमें स्थित षोडशदल-कमलके आकारवाला आज्ञाचक्र द्रव्य-बुद्धि है, और उसकी पृष्ठ-भूमिमें स्थित निर्णय करनेकी शक्ति भाव-बुद्धि है। कण्ठ-स्थानमें स्थित द्वादशदल-कमलके आकार-वाला विशुद्धि-चक्र द्रव्यचित्त है और उसकी पृष्ठभूमिमें स्थित चिन्तन करनेकी शक्ति भावचित्त है। नाभि-स्थानपर स्थित चतुर्दल-कमलके आकारवाले मणिपूर चक्रको हम द्रव्य-अहंकारके स्थानपर समझ सकते हैं। इसकी पृष्ठभूमिमें स्थित मैं-मेरा, तू-तेरा रूप द्वन्द्व करनेवाली शक्ति भाव-अहंकार है।

३. वचन

वचन भी दो प्रकारका है—द्रव्यवचन और भाववचन। कण्ठ-तालु जिह्वाके स्पन्दनसे जिसकी अभिव्यक्ति होती है और कानोंके द्वारा जो सुना जाता है वह द्रव्यवचन है। इसका कारण यह है कि जिन कण्ठ तालु आदि के द्वारा यह अभिव्यक्त होता है वे तो परमाणुओंके द्वारा निर्मित होनेके कारण द्रव्यात्मक हैं ही, इनके स्पन्दनसे सुना जाने योग्य जो शब्द होता है वह भी वास्तवमें द्रव्यात्मक है, क्योंकि वह शब्द वर्गणा नामक किन्हीं विशेष जातिके परमाणुओंसे निर्मित है, जिसका उल्लेख अगले अधिकारमें किया जानेवाला है। यह द्रव्य वचन दो प्रकारका है, अन्तर्जल्प तथा बहिर्जल्प। बाहरमें बोला तथा सुना जानेवाला बहिर्जल्प है और अन्दरमें बोला तथा सुना जानेवाला अन्तर्जल्प है। बहिर्जल्प सर्व प्रसिद्ध है। अन्तर्जल्प यद्यपि सर्वप्रसिद्ध नहीं है तदपि इसकी प्रतीति आ-बालगोपाल सबको होती है। हम अन्दरमें मनके द्वारा निरन्तर किसीसे कुछ बातें किया करते हैं। वहाँ बातें करनेवाला तो 'अहं' होता है और उन्हें सुननेवाला 'इदं'। ये दोनों ही क्योंकि अन्तःकरण हैं इसलिये उनके द्वारा बोला गया तथा सुना गया शब्द अन्तर्जल्प है।

भाववचन मनका वह विकल्प है जिसकी प्रेरणा से कि कण्ठ तालु आदि क्रिया करते हैं। मनके इस विकल्पको बाहर में प्रकट करना ही द्रव्य-वचनका उद्देश्य होता है। जैसा कैसा भी वह विकल्प होता है वैसा ही वचन निकलता है। यदि वह विकल्प सत्य होता है तो वचन सत्य निकलता है, और यदि वह विकल्प असत्य होता है तो वचन भी असत्य निकलता है। इसी प्रकार यदि विकल्प उभय रूप अर्थात् सत्य-असत्यसे मिश्रित होता है तो वचन उभयरूप निकलता है और यदि विकल्प अनुभयरूप होता है तो वचन भी अनुभयरूप निकलता है। चेतनाके उपयोग रूप होनेसे वचन विषयक यह विकल्प ही भाववचन कहा जाता है।

४. काय

जिस प्रकार मनके प्रकरणमें ज्ञानेन्द्रियोंका अन्तर्भाव होता है उसी प्रकार कायके प्रकरणमें कर्मेन्द्रियोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियोंकी भांति कर्मेन्द्रियां भी दो-दो प्रकारकी होती हैं—द्रव्यरूप और भावरूप। परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण हाथ पांव आदि द्रव्यात्मक हैं और उनकी पृष्ठभूमिमें स्थित चेतनाको वह योग-शक्ति भावात्मक है, जिसके द्वारा कि ये चेष्टा करते हैं। शरीरके क्रियाशील अंग होनेसे कायमें गर्भित हैं।

कर्मेन्द्रियोंकी भांति द्रव्यात्मक ज्ञानेन्द्रियें और द्रव्यात्मक अन्तर्करण भी, क्योंकि शरीरके ही अंग है इसलिये उनका भी यहां ग्रहण हो जाता है। अर्थात् द्रव्येन्द्रियां तथा द्रव्य अन्तर्करण भी द्रव्यकायमें गर्भित हैं। विशेषता इतनी है कि उपयोगात्मक होनेके कारण उनके भावात्मक पक्षका कायमें ग्रहण होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार परमाणुओंसे निर्मित कर्मेन्द्रियां, परमाणुओंसे निर्मित ज्ञानेन्द्रियां और परमाणुओंसे निर्मित अन्तर्करण ये सब कायके

अन्तर्गत हैं। इन सबसे समवेत परमाणुओंसे निर्मित शरीर द्रव्यकाय है और इसकी पृष्ठ-भूमिमें स्थित चेतनाकी वह योगशक्ति भावकाय है जिससे कि शरीर और उसके सब अंगोपांग चेष्टा करते हैं।

काय तथा उसके अंगोपांगों की चेष्टामें हाथ पांव आदिकी क्रियायें प्रसिद्ध हैं। वाग्निन्द्रिय अथवा जिह्वाकी चेष्टा खाते तथा बोलते समय उसका इधर-उधर हिलना है जिसे भावकायकी चेष्टामें गर्भित किया जा सकता है परन्तु इसके द्वारा प्रकट होनेवाले शब्द को हम काय नहीं कह सकते क्योंकि उसका ग्रहण द्रव्यवचनके रूपमें किया जा चुका है। इसीप्रकार नेत्रपुटका निमेषोन्मेष अथवा पुतलीका इधर-उधर चलना ही भावकायकी चेष्टामें गर्भित किया जा सकता है, उसके द्वारा जो काले-पीले आदिका ग्रहण होता है वह नहीं। इसी प्रकार त्वचाका थरकना अथवा फरकना ही भावकायकी चेष्टामें सम्मिलित किया जा सकता है, उसके द्वारा होनेवाली शीत उष्ण आदिकी प्रतीतियां नहीं। मन या अन्तष्करणमें विषयसे विषयान्तर अथवा विकल्पसे विकल्पान्तर होनेवाली जो क्रिया होती है उसका ग्रहण भी यहां नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका अन्तर्भाव भाव-मनमें किया जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि परमाणुओंसे निर्मित शरीर तथा उसके सकल अंगोपांग द्रव्यकाय हैं और इन सब अंगोपांगोंकी हलन-डलनरूप क्रिया भावकाय है।

द्रध्यमन, द्रव्यवचन तथा द्रव्यकाय ये तीनों ही क्योंकि परमाणुओंकी रचनायें हैं क्रिया नहीं, इसलिये योगके प्रकरणमें उनका ग्रहण नहीं होता है। वे योगके कारण हैं परन्तु स्वयं योग नहीं हैं, जिस प्रकार कि नेत्र रूपग्रहण वाले ज्ञानोपयोगका करण

है परन्तु स्वयं उपयोग नहीं है। चेष्टा-स्वरूप होनेके कारण भावमन, भाववचन तथा भावकाय ही त्रिविध योग है। यह पहले बताया जा चुका है कि मन वचन काय कहनेसे कर्म-विधानके १४ करणों का ग्रहण हो जाता है। विस्तार करनेपर जो चौदह हैं वे ही संक्षेप करनेपर तीन हैं। इसलिये शास्त्रों में तीन योग प्रसिद्ध हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

संकल्पपूर्वक समग्रमें प्वायंट लगाना क्योंकि भावमनका काम है इसलिये उसके जीवित रहनेपर ज्ञातृत्व कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ये तीनों प्रकारके कर्त्तव्य-कर्म बन्धनकारी हैं भावमनके मर जाने पर नहीं।

★ प्रतिक्रिया रहित संवेदन होने पर दुःख चक्र दूट जाता है।

★ ऋजु आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।



कर्म सिद्धान्तके प्रकरणमें चेतनाकी योग तथा उपयोग ऐसी द्विविध शक्तिका अध्ययन किया गया। इन दोनों शक्तियोंमें यहां योग प्रधान है, क्योंकि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व क्रिया ही कर्मका लक्षण है। सामान्य स्पन्दनके रूपसे एक होते हुए भी यह करणकी अपेक्षा तान प्रकारका है—मनोयोग अर्थात् भावमन, वचनयोग अर्थात् भाववचन और काययोग अर्थात् भावकाय। मन, चित्त अथवा अन्तष्करणका विस्तृत विचार कई अधिकारोंके द्वारा किया जा चुका है, वचनके प्रकरणमें द्रव्यवचन प्रसिद्ध है और भाव-वचनका विस्तार मनके प्रकरणमें गर्भित हो जाता है। कायका विचार अभी अपर्याप्त है। कर्म-सिद्धान्तके प्रकरणमें इसका बड़ा महत्त्व है, इसलिये आइये इसका कुछ विशेषताके साथ अध्ययन करें।

१. त्रिविध शरीर

यद्यपि व्यवहार-भूमिपर बाहरमें दिखनेवाला यह स्थूल शरीर ही प्रसिद्ध है परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर इसके भीतर दो अन्य शरीर विद्यमान हैं, जो सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिपथ में नहीं आते। स्थूल होनेके कारण इस बाह्य शरीरको शास्त्रोंमें औदारिक कहा गया है और जो दो सूक्ष्म शरीर इसके भीतर विद्यमान हैं

उनका उल्लेख तैजस तथा कार्मण इन दो नामोंसे किया गया है। यद्यपि काय या शरीर कहनेसे प्रायः बाहरवाले इस अति स्थूल औदारिक शरीरका ही ग्रहण होता है, परन्तु सिद्धान्तमें प्रयुक्त काय शब्द इन तीनों शरीरोंको युगपत् ग्रहण करता है। स्थूल होनेके कारण भले ही यह शरीर अधिक सत्य दिखाई देता हो, परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर भीतरवाले तैजस तथा कार्मण शरीर इसकी अपेक्षा अधिक सत्य हैं, क्योंकि मृत्युके अवसरपर यह शरीर तो अपना त्यागपत्र देकर जीवात्माका साथ छोड़ देता है परन्तु सच्चे मित्रोंकी भांति तैजस तथा कार्मण शरीर उसका साथ नहीं छोड़ते हैं, और भव-भवान्तर तक उसका साथ निभाते रहते हैं। जबतक जीवात्मा स्वयं इन्हें साथ छोड़ देनेके लिए नहीं कहता है तबतक ये एक क्षणके लिये भी उसकी सेवासे विरत नहीं होते।

२. परमाणु

इन तीनों शरीरोंका अध्ययन करनेसे पहले हम सर्वप्रथम उस द्रव्यका अध्ययन करें जिससे कि इन शरीरोंका निर्माण होता है, और पहले अधिकारमें जिसका उल्लेख परमाणुके नामसे किया गया है। इस जगत्में दो द्रव्य प्रसिद्ध हैं—एक चेतन और दूसरा जड़। चेतन द्रव्यका उल्लेख यद्यपि पृथक्से किया नहीं गया है, तदपि ज्ञान तथा चेतन शक्तिके रूपमें अथवा आत्मा या जीवात्माके रूपमें उसका कथन प्रसंगवशात् यत्र-तत्र किया जा चुका है, और आगे भी किया जाता रहेगा। दूसरा जो जड़ द्रव्य है वही यहां प्रकृत है।

इस द्रव्यका छोटेसे छोटा भाग परमाणु कहलाता है। परमाणु यद्यपि एक ही प्रकार का है, अर्थात् संख्यामें अनेक होते हुए भी सब परमाणु यद्यपि एक ही जातिके हैं तदपि परस्परमें संश्लिष्ट या सम्बद्ध हो जानेपर जो सूक्ष्म या स्थूल स्कन्ध बनते हैं उनमें

जाति-भेद हो जाना स्वाभाविक है। लोकमें पृथिवी, अर्प, तेज और वायु ऐसे चतुर्विध भूत प्रसिद्ध हैं जिनके संयोगसे इस लोकके समस्त दृष्ट पदार्थोंका निर्माण हुआ है। ये चारों भूत यद्यपि मूलमें जाकर देखनेपर परमाणु नामक एक ही जातिके हैं, तदपि व्यवहार भूमिपर इनमें जाति-भेद प्रत्यक्ष है।

३. वर्गणा

यद्यपि ये चार भूत भी परमाणुओंसे ही निर्मित हैं, स्वतन्त्र कुछ नहीं हैं, तदपि ये साक्षात् रूपसे परमाणुओंके द्वारा नहीं बने हैं, परम्परा रूपसे बने हैं। परमाणुओंके योगसे सर्वप्रथम एक प्रकारका अति सूक्ष्म स्कन्ध बनता है जिसे शास्त्रोंमें 'वर्गणा' नाम दिया गया है। विज्ञान इसे मालीक्यूल (Molecule) कहता है। ऐसी-ऐसी अनेक वर्गणाओं या मालीक्यूलोंके योग से पृथिवी आदि भूत बनते हैं, और इन भूतोंके योगसे सकल दृष्ट पदार्थ बनते हैं। यद्यपि परमाणु एक ही जातिके होते हैं परन्तु उनके योगसे जो वर्गणायें बनती हैं उनमें जाति-भेद उत्पन्न हो जाता है। वह जाति-भेद क्यों उत्पन्न हो जाता है। इसका विस्तृत विवेचन पदार्थ-विज्ञान अथवा कर्म-सिद्धान्त नामक पुस्तकमें पहले ही किया जा चुका है।

वर्गणा नामक ये सूक्ष्म स्कन्ध पांच प्रकारके बताये गये हैं— आहारकवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा तथा कर्मण-वर्गणा। पांचों उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। आहारक-वर्गणा इन पांचोंमें सबसे अधिक स्थूल अथवा सबसे कम सूक्ष्म है, भाषावर्गणा उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, मनोवर्गणा उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, तैजस वर्गणा उसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कर्मण वर्गणा सबसे अधिक सूक्ष्म है। सबसे स्थूल आहारक वर्गणाओंके संश्लेषसे औदारिक शरीर बनता है, इसीलिये तीनों शरीरोंमें यह

सबसे अधिक स्थूल है। पृथ्वी आदि जिन चार भूतोंका उल्लेख पहले किया गया है वे भी वास्तवमें आहारक वर्गणाओंसे निर्मित होनेके कारण औदारिक शरीर ही हैं, स्वतन्त्र कुछ नहीं।

भाषा वर्गणाओंके योगसे शब्द अथवा द्रव्य वचनका निर्माण होता है, इसलिये वह औदारिक शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म है। मनो-वर्गणाओंसे निर्मित होनेके कारण 'द्रव्य मन' वचनकी अपेक्षा भी सूक्ष्म है। तैजस वर्गणाओंसे तैजस शरीर और कार्मण वर्गणाओंके योगसे कार्मण शरीर बनता है। इसीसे ये दोनों अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इन दो शरीरोंकी विशेषताओंको जाननेके लिये हमें इनकी मूलभूत इन दो वर्गणाओंका अध्ययन करना चाहिए।

४. तैजस-शरीर

तैजस शरीरका तथा उसके कारणभूत तैजस वर्गणाका लक्षण शास्त्रोंमें नगण्य तुल्य है तथापि विज्ञानकी साक्षीमें हम इसका अध्ययन कर सकते हैं। विज्ञानकी दृष्टिसे तैजस वर्गणाको हम बिजलीकी शक्तिवाला पदार्थ (इलेक्ट्रानिक मालीक्यूल) कह सकते हैं। तैजस शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ग्रहण करनेपर भी यही अर्थ हाथ आता है, क्योंकि तेजके अर्थमें अग्निकी जातिके प्रत्येक पदार्थ गर्भित हैं। जिस प्रकार अग्नि दीपकके योगसे प्रकाश, कोयलेके योगसे गर्मी और वाष्पके योगसे क्रिया उत्पन्न करती है उसी प्रकार बिजली भी बल्बके योगसे प्रकाश, हीटर, केतली, प्रेस आदि उपकरणोंके योगसे गर्मी और पंखे तथा मोटरके योगसे क्रिया उत्पन्न करती है।

इस जातिकी वर्गणाओंके संश्लेषका कार्य होनेसे तैजस शरीरमें भी ये तीनों शक्तियां होनी स्वाभाविक है, जिनका प्रभाव हम अपने इस औदारिक शरीरमें नित्य अनुभव कर रहे हैं। तैजस शरीरकी हम विज्ञानकी भाषामें बिजलीका शरीर (इलेक्ट्रिकल वाडी)

कह सकते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें इस शरीरका लक्षण केवल औदारिक शरीरमें कान्ति उत्पन्न करना है, तदपि उपलक्षणसे यहां उसके तीनों कार्योंका ग्रहण किया जा सकता है। अपने इस औदारिक शरीरकी त्वचापर हम जिस प्रकार कान्ति अथवा चमक-दमकका प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार इसके भीतर पेटमें उदराग्निका भी अनुभव करते हैं, जिसके योगसे आमाशयमें भोजनका पाक होता है और रक्तसंचारके माध्यमसे जिसके द्वारा नस-नसमें गर्मी बनी रहती है। जिस प्रकार कान्ति तैजस शरीरसे होती है उसी प्रकार यह गर्मी भी तैजस शरीरका ही कार्य है। इसका अभाव हो जानेके कारण मृत शरीरमें जिस प्रकार कान्ति नहीं रहती उसी प्रकार गर्मी भी नहीं रहती।

इसी प्रकार योगवाले पूर्व अधिकारमें कथित शरीरके अंगो-पांगोंकी विविध क्रियायें भी तैजस शरीरका ही कार्य सिद्ध किया जा सकता है। चेतनाके योगसे तैजस-शरीर प्राण वायुको नस-नसमें पहुँचाता है। उसके द्वारा मांसपेशियों अथवा पट्टों (Muscles) में कठोरता उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप हाथ पांव आदि क्रिया करने लगते हैं। भार उठाते समय बाहुके पट्टे और चलते समय जंघाओंके पट्टे कठोर हो जाते हैं, यह सर्व प्रत्यक्ष है। यह सकल कार्य विजलीके शरीरका है।

‘तैजस समुद्घातकी अवस्थामें योगीके बायें कन्धेसे जाज्वल्यमान अग्निका पुतला निकलकर बाहरी पदार्थको भस्म कर देता है’ ऐसा शास्त्रोंमें उल्लेख पाया जाता है। इसी प्रकार आतप तथा उद्योतसे युक्त शरीरोंका भी कथन पाया जाता है, जुगनूके अतिरिक्त पर्वतोंमें अनेकों बड़े-बड़े जन्तु ऐसे पाये जाते हैं, जिनका शरीर चन्द्रमाकी भांति चमकता है। सागरोंमें अनेकों मछलियाँ ऐसी पाई जाती हैं जिनके शरीरसे प्रकाशकी किरणें निकलती हैं।

ऐसी भी मछलियाँ पाई गयी हैं जिनका सान्निध्य प्राप्त होनेपर व्यक्तिको बिजलीकी भाँति झटका (Shock) लगता है। इन सब लक्षणोंपर से बाहरके इस स्थूल या औदारिक शरीरके भीतर एक बिजलीके शरीरका अस्तित्व सिद्ध होता है। शास्त्रोंमें इसका उल्लेख तैजस शरीरके नामसे किया गया है। किसीके शरीरमें उसके लक्षण अधिक प्रभूत हैं और किसीके शरीरमें कम।

५. कार्मण शरीर

तैजस शरीरके भीतर इससे भी अधिक सूक्ष्म एक अन्य शरीर है, जिसका उल्लेख शास्त्रोंमें कार्मण-शरीरके नामसे किया गया है। इसका निर्माण कार्मण नामवाली पंचम जातीय वर्गणाओंसे होता है। अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण इसका लक्षण किसी भी प्रकारसे इन्द्रिय-पथमें आना सम्भव नहीं। परन्तु विवेकके द्वारा हम उसका अध्ययन अवश्य कर सकते हैं। आजका मनोविज्ञान किसी न किसी रूपमें इसका साक्षी है।

कार्मण वर्गणाओंको हम टेप-रेकार्डके साथ उपमित कर सकते हैं। हम जो कुछ भी अच्छा या बुरा बोलते हैं वह सब ज्योंका त्यों टेप पर अंकित हो जाता है। परन्तु टेपको आँखोंसे देखनेपर यह दिखाई नहीं देता कि उस पर वह सब कहाँ तथा किस रूपमें अंकित हुआ है। टेप प्लास्टिककी बनी हुई एक पट्टी मात्र है, उसपर एक मसाला चढ़ा होता है। यह अंकन वास्तवमें उस मसाले पर होता है टेप पर नहीं। टेप ही हमें आँखसे दिखाई देती है परन्तु उस पर चढ़ा हुआ मसाला नहीं।

इस प्रकार औदारिक शरीर तो हमें दिखाई देता है परन्तु इसके भीतर लिप्त कार्मण वर्गणाओंका वह मसाला हमें दिखाई नहीं देता, जिसे कि यहाँ कार्मण शरीर कहा जा रहा है। मनसे, वचनसे अथवा कायसे हम, जो कुछ भी अच्छा या बुरा विचारते हैं,

अच्छा या बुरा बोलते हैं, अथवा अच्छा या बुरा करते हैं उस सबके संस्कार ज्यों-के-त्यों कर्मण शरीर नामक इस मसाले पर अंकित हो जाते हैं। विवाहके अवसरोंपर जिस प्रकार मातायें घरोंकी भित्तियोंपर हाथसे छापे लगा देती हैं, उसीपर हमारा प्रत्येक कर्म चित्तभित्तिपर अंकित होता चला जाता है (देखो पुस्तकका कवर)। यह कर्मण शरीर ही वास्तवमें चित्तका वह अक्षय कोष है जिसे कि पहले Subconscience या उपचेतना कहा है। औदारिक शरीरको देखने पर हमें यह पता नहीं चलता कि वह शरीर कहाँ है और उसपर वह अंकन कहाँ तथा किस रूपमें हुआ है।

जिस प्रकार कोई विशेष अवसर प्राप्त होनेपर मशीनके माध्यमसे हम टेपपर अंकित सब कुछ ज्योंका त्यों सुन सकते हैं, उसी प्रकार विशेष काल प्राप्त होनेपर मन वचन कायके माध्यमसे हम कर्मण शरीरपर अथवा उसमें बन्धी कर्मण-वर्गणाओंपर अंकित सब कुछ ज्योंका त्यों अनुभव कर सकते हैं। जैसा संस्कार उसपर अंकित होता है वैसा ही मनके द्वारा हम विचारते हैं, वैसा ही वचनके द्वारा हम बोलते हैं और वैसा ही शरीरके द्वारा हम कार्य करते हैं, वैसा ही ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा हम जानते हैं वैसा ही कर्मेन्द्रियोंके द्वारा हम करते हैं और वैसा ही अन्तःकरणके द्वारा हम भोगते हैं।

भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् तीनों ही कालोंमें, हमारे मन वचन कायकी तथा इनके बाह्याभ्यन्तर सकल अंगोपांगोंकी, इनकी समस्त गतिविधियोंकी, इनके योगकी अथवा उपयोगकी, इनके ज्ञातृत्वकी, कर्तृत्वकी तथा भोक्तृत्वकी वाहक तथा परिचालक सब कुछ कर्मण नामवाली यह उपचेतना ही है। तैजस-शरीरकी भी समस्त कार्यवाही इसीकी प्रेरणासे होती है। इसलिये भले ही

अपनी सूक्ष्मताके कारण उपचेतना-स्वभावी यह कर्मण शरीर दृष्ट-पथमें न आये परन्तु कर्मके क्षेत्रमें इसका महत्त्व सर्वोपरि है। परमाणु-पुंज रूप कर्मण वर्गणाओंसे निर्मित होनेके कारण यद्यपि यह औदारिक तथा तेजस शरीरकी भांति जड़ है, तदपि मन वचन कायके संस्कारोंको ग्रहण कर लेनेके कारण यह उसी प्रकार चेतनवत् प्रतीत होता है, जिस प्रकार कि बोल-बोलकर सुनाने वाला टेप।

कर्मण-शरीर ही वास्तवमें बन्धनकारी है औदारिक तथा तेजस शरीर नहीं। ●

१. पुनरावृत्ति

भावावेगमें हम बहुत दूर आगे निकल आये हैं, इसलिये आइये अब तकके सकल सन्धानपर एक विहंगम दृष्टि डाल लें। मन, वाणी तथा शरीरके द्वारा जो कुछ भी हम संकल्प पूर्वक विचारते हैं, बोलते हैं तथा करते हैं वह हमारा कृतक कर्म है, जो ज्ञातृत्व कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वके रूपमें त्रिधा विभक्त किया जा सकता है। नेत्रादि ज्ञानकरण, हाथ पांव आदि कर्मकरण और मन बुद्धि आदि अन्तष्करण ये तीन इसके साधन हैं, जिनको भीतरी चेतना अपनी योग तथा उपयोग शक्तिके द्वारा नित्य चालित करती रहती है। जिस प्रकार नेत्र आदि ज्ञानकरण उपयोगके क्षेत्रमें साधन हैं उसी प्रकार मन वचन तथा काय योगके क्षेत्रमें साधन हैं। ये सभी साधन अथवा करण द्रव्य तथा भावके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। नेत्र-गोलक आदिके रूपमें परमाणुओंके द्वारा रचित शरीरके अंगोपांग द्रव्य-करण हैं और उसकी पृष्ठभूमिमें स्थित उनको चालित करने वाली चेतनाकी योग तथा उपयोग शक्ति भाव-करण अथवा भाव-साधन है। काय-योगके क्षेत्रमें औदारिक नाम वाला यह स्थूल

शरीर द्रव्य-करण है, और इसके भीतर स्थित कर्मण नामवाला सूक्ष्म शरीर यद्यपि परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण द्रव्यात्मक है तदपि कर्मोंके संस्कारोंको ग्रहण करनेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण भावकरणके रूपमें ग्रहण किया जाता है। अर्थात् औदारिक शरीर द्रव्य-काय है और कर्मण शरीर भाव-काय।

२. त्रिविध कर्म

कर्म-सिद्धान्तके क्षेत्रमें क्योंकि कर्मण नामवाला यह भाव शरीर ही सर्वप्रधान है इसलिये इसको दृष्टिमें रखते हुए अपने प्रधान विषयका अर्थात् कर्मका एक बार पुनः अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार अध्यात्मके क्षेत्रमें कर्मकी जातियोंकी अपेक्षा ज्ञातृत्व आदिके भेदसे कृतक कर्म तीन प्रकारका माना गया है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्तके क्षेत्रमें कारण-कार्य सम्बन्धकी अपेक्षा कर्म तीन प्रकार का माना गया है—भावकर्म, द्रव्यकर्म और लोकर्म। मन, वचन कायके योगसे होनेवाली ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूप त्रिविध प्रवृत्ति 'कर्म' शब्दका सामान्य अर्थ है। यही प्रवृत्ति जब कषाय अथवा रागद्वेषसे युक्त होती है तो भावकर्म कहलाती है। उस विषयका विवेचन आगे पृथक् अधिकारमें किया जाने वाला है। कर्मण नामसे प्रसिद्ध जिस सूक्ष्म शरीरका परिचय पूर्व अधिकारमें दिया गया है वह 'द्रव्य-कर्म' कहलाता है और बाहरका यह स्थूल औदारिक शरीर 'लोकर्म' है। इन दोनोंका संक्षिप्त सा परिचय देना इस अधिकारका उद्देश्य है।

३. द्रव्य-कर्म

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्मण जातिकी जिन वर्गणाओंके द्वारा कर्मण नामक भाव-कायका निर्माण होता है वे यद्यपि परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण जड़ हैं, तदपि चेतनाके उक्त कर्मोंके संस्कारोंको ग्रहण करनेके लिये समर्थ होनेके कारण

चेतन सरीखी हैं। इन वर्गणाओंसे निमित्त होनेके कारण कार्मण शरीरका उक्त कर्मके साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि व्यावहारिक क्षेत्रमें इन दोनोंको एक दूसरेसे विलग किया जाना सम्भव नहीं है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मन, वाणी तथा शरीरके द्वारा हम सोते, जागते, उठते, बैठते हर समय कुछ न कुछ करते रहते हैं। इसीको शास्त्रोंमें आश्रव नामका तत्त्व कहा गया है, जो कि आगे चलकर संसार बन्धनके रूपमें परिवर्तित हो जाता है।

‘कायवाड्मनःकर्म योगः। स आश्रवः’।

यदि इस आश्रव अथवा कर्मप्रवृत्तिके संस्कारोंका संग्रह करनेके लिए प्रकृतिकी ओरसे हमें कोई साधन न जुटाया गया होता तो काम करनेका क्षण बीत जानेपर उसके साथ ही कर्म भी सर्वथा बीत जाता अथवा नष्ट हो जाता, और हमें किसी प्रकार भी बन्धनमें पड़नेका भय नहीं रह जाता। परन्तु यदि कदाचित् ऐसा हो जाता तो जगत्के प्राणी सर्वथा निर्भय, निरर्गल तथा स्वच्छन्द हो जाते। न्याय नीति नामकी कोई वस्तु शेष न रह जाती। एक एक व्यक्ति सारे जगत्को निगल जानेके लिये तैयार हो जाता। इसलिये हमें प्रकृतिका अनुग्रह मानना चाहिए कि उसने कृतक कर्मोंके सकल संस्कारोंका संग्रह करनेके लिये न चाहते हुए भी प्रत्येक प्राणीको अपनी ओरसे ‘कार्मणशरीर’ नामक एक ऐसा साधन प्रदान कर रखा है कि उसके द्वारा किए गए अच्छे या बुरे सकल कर्मोंके संस्कार बिना किसी प्रयत्नके स्वयं उसपर अंकित होते रहें और यथासमय उदित हो-होकर उसे यह याद दिलाते रहें कि तूने किसी समय ऐसा कार्य किया था जिसका दण्ड अथवा उपहार यहां तुझे मिल रहा है। जिस प्रकार दण्ड पाते हुए रो रहे हो इसी प्रकार कर्म करते हुए यदि यह सोच लेते कि भीतरमें स्थित प्रकृति-प्रदत्त कार्मण-शरीर तेरे प्रत्येक कर्मोंका निरीक्षण

किए जा रहा है, और कौड़ी-कौड़ीका हिसाब रखे जा रहा है, तो तेरी सकल प्रवृत्ति अनुशासित हो जाती। समय आनेपर तू इसके दण्डसे बच नहीं सकेगा। विश्वके इस विधाता का विधान अटल है। मनुष्य, देव, इन्द्र, धरणेन्द्र कोई भी क्यों न हो इसकी दृष्टिसे ओझल नहीं रह सकता और न ही इसके पाशसे बच सकता है। यह ही वास्तवमें जगद्व्यापी वह महाशक्ति या तत्त्व है जिसे वैदिक कवियोंने वरुणदेव, यमराज अथवा धर्मराजके रूपमें चित्रित किया है, और जगत्की सकल कर्मव्यवस्थाका धाता-विधाता तथा शास्ता बनाकर जिसे हमारी श्रद्धाकी वेदीपर प्रतिष्ठित किया है। बाहरका यह स्थूल शरीर रहे या न रहे परन्तु यह मरते तथा जीते हर समय जीवके साथ रहता है, और उसकी सकल कार्यवाहीका सूक्ष्म निरीक्षण तथा परीक्षण करता रहता है। इसलिए जड़ होते हुए भी यह चेतनवत् है, अथवा चिदाभासी है।

चेतनाकी उक्त प्रवृत्तियोंके प्रति यह कार्य भी है और कारण भी है। कर्मके संस्कारोंको ग्रहण करके स्थित रहता है इसलिये यह उसका कार्य है। इसी प्रकार यथासमय फलोन्मुख होकर जीवको पुनः उसी प्रकारके कर्म करने के लिये उकसाता है, और चाहते हुए अथवा न चाहते हुए भी जीवको उसकी प्रेरणा से कर्म करना पड़ता है, इसलिये यह उसकी सकल प्रवृत्तियोंका कारण भी है। कर्म-प्रवृत्ति से कामर्ण-शरीरपर संस्कारोंका अंकन होना, कुछ काल पश्चात् उसपर अंकित संस्कारोंका जाग्रत होना, इन जाग्रत संस्कारों की प्रेरणासे जीवका पुनः कर्ममें प्रवृत्त होना, उस प्रवृत्तिसे पुनः कामर्ण-शरीरपर संस्कारोंका अंकन होना, कुछ काल पश्चात् अंकित हुए संस्कारोंका पुनः जाग्रत होना और उन जाग्रत संस्कारोंकी प्रेरणासे जीवका पुनः कर्ममें प्रवृत्त होना, यह चक्र अनादि से चला आ रहा है और उस समयतक बराबर चलता रहेगा जबतक कि जीव गुरु-कृपासे कर्मकी इस कार्य-कारण

व्यवस्थाका साक्षात् करके कर्मोंसे विरत नहीं हो जाता। यही संक्षेपमें कर्म-सिद्धान्तका सकल सार है।

यद्यपि 'कर्म' वास्तवमें चेतन प्रवृत्तिका नाम है, जिसका कथन विस्तार के साथ पहले किया जा चुका है, तदपि उसका कार्य तथा कारण होनेसे कर्मण शरीर भी उपचारसे कर्म कहा जाता है। विशेषता इतनी है कि चेतन प्रवृत्ति की भांति यह भावात्मक न होकर परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण द्रव्यात्मक है। इसीलिये इसका 'द्रव्यकर्म' नाम सार्थक है।

४. नोकर्म

जिस प्रकार कारणमें कार्यका अथवा कार्यमें कारणका उपचार करके कर्मण शरीरको 'द्रव्यकर्म' कहा गया है, उसी प्रकार बाहरके इस स्थूल औदारिक शरीरको भी हम 'कर्म' कह सकते हैं। यद्यपि सकल प्रवृत्तियों का प्रधान कारण होनेसे अथवा ज्ञानेन्द्रियों आदि सकल कारणों में अनुगत होनेसे यह कर्म है, तदपि कर्मण शरीरकी भांति यह कर्मोंके संस्कारोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिये इसे साक्षात् कर्म न कहकर नोकर्म अथवा किञ्चित् कर्म कहा गया है।

यद्यपि औदारिक शरीर कहनेसे केवल चेतन-प्रवृत्तिके कारण-भूत इस स्थूल शरीरका ग्रहण होता है, तदपि तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर जगत्में स्थूल अथवा सूक्ष्म जो कुछ भी दृष्ट है वह सब इसमें गर्भित है क्योंकि जितने कुछ भी दृष्ट पदार्थ हैं वे सब या तो आज किसीके शरीर हैं या पहले किसीके शरीर रह चुके हैं। जीवात्माके द्वारा त्यक्त हो जानेसे भले ही वे सब आज भौतिक अथवा जड़ पदार्थोंके रूपमें ग्रहण किये जाते हों, परन्तु उनका पूर्व इतिहास खोजनेपर पता चलता है कि ये सब पहले किसी न

किसीके शरीर अवश्य रह चुके हैं। जैसे कि काष्ठ, कड़ी, फर्नीचर आदि सब वनस्पति कायके मृतक शरीर हैं, और महल, मकान, मशीनें, आभूषण, बर्तन, पेट्रोल आदि सब पृथिवी कायके मृत शरीर हैं।

इस प्रकार पंचभौतिक नामसे प्रसिद्ध जितने कुछ भी पदार्थ हमारे व्यवहार-पथमें आ रहे हैं वे सब इस जीवित शरीरकी भांति ही शरीर हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होनेपर ही उनके संयोग तथा वियोगके लिये हमारी सकल प्रवृत्तियां प्रारम्भ होती हैं, इसलिये ये हमारी प्रवृत्तियोंके कारण हैं, और प्रवृत्तियोंके कारण होने से कर्म हैं। परन्तु कर्म होते हुए भी संस्कारोंका संग्रह करनेमें असमर्थ होनेसे 'नोकर्म' अथवा किंचित् कर्म कहलाते हैं। ●

★ पंचेन्द्रियों के निग्रह से और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष, मोह आदि पर विजय प्राप्त करने से जीव समस्त तिमिर को हरण करने वाले लोक, अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान और केवल दर्शन को उपलब्ध होता है।

२३. भावकर्म

१. सकषाय-अकषाय

मन वचन कायके योगसे होनेवाली ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूप हमारी सकल प्रवृत्तियोंको अबतक 'कर्म' कहा जाता रहा है। यद्यपि सामान्य दृष्टिसे देखनेपर ये कर्म अवश्य हैं परन्तु कर्म-सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखनेपर ये प्रधान कर्म नहीं हैं। इसका कारण यह है कि स्वयं कर्म रूप होते हुए भी ये जीवके लिये बन्धनकारी नहीं हैं। तत्क्षण समाप्त हो जाने के कारण इनके द्वारा बीज-वृक्ष न्यायवाली पूर्वोक्त संस्कार-परम्परा का निर्माण नहीं होता। संस्कार-परम्पराका कारण वास्तवमें प्रवृत्ति नहीं है, प्रत्युत वह कषाय या स्वार्थ है जिसकी प्रेरणासे कि व्यक्ति कर्ममें प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार धूलमें खेलनेसे कपड़ोंपर धूल अवश्य पड़ती है परन्तु यदि कपड़े पसीने के द्वारा गीले नहीं हो गये हैं तो उन पर पड़ी हुई वह धूल उनपर चिपकती नहीं है, इसी प्रकार मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे कर्म होता अवश्य है परन्तु यदि भीतरमें कषाय या स्वार्थ नहीं है तो चित्त-भूमिपर अथवा कार्मण शरीरपर उसके संस्कार अंकित नहीं होते हैं। यदि होते भी हैं तो वे

इतने क्षीण होते हैं कि अगले समयमें ही वायु-मण्डलमें विलीन हो जाते हैं। दूसरी ओर जिस प्रकार पसीनेसे गीले हुए कपड़ोंपर वह धूल चिपटकर उन्हें मैला कर देती है, इसी प्रकार कषाय अथवा स्वार्थ-रंजित चित्तके साथ तादात्म्यको प्राप्त होकर उक्त प्रवृत्तियों के संस्कार उसे मैला कर देते हैं। जिस प्रकार सोडा साबुनका प्रयोग किये बिना कपड़ोंका मैल नहीं छूटता, इसी प्रकार विवेक तथा साधनाके बिना चित्तगत संस्कारोंका मैल नहीं छूटता।

इसीलिये मन वचन तथा कायके माध्यमसे बाहर दिखनेवाली प्रवृत्ति वास्तव में बन्धनकारी नहीं है, प्रत्युत वह कषाय अथवा स्वार्थ ही बन्धनकारी है, जिसकी प्रेरणासे कि व्यक्ति उन कर्मोंमें प्रवृत्त हुआ है। कषाय या स्वार्थ के अभावमें वह कर्म केवल ईर्यापथ अर्थात् आने-जाने वाला रहता है, चिपट कर संसारवृद्धि करने वाला नहीं बनता।

२. राग-द्वेष

कषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।

अहंकारवाले अधिकारमें यह बात विस्तारके साथ हृदयंगम कराई जा चुकी है कि समग्रको युगपत् ग्रहण न करनेके कारण क्षुद्र अहंकार अपने भीतरमें मैं-मेरा, तू-तेरा, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य, आदि रूप परस्पर विरोधी तथा विषम द्वन्द्वोंकी सृष्टि कर लेता है, और उनके अनुसार जगत्में विषम व्यवहार करता है। अध्यात्म शास्त्रमें अहंकारका जो भाव विषम द्वन्द्वोंके नामसे प्रसिद्ध है, उसे ही आचार-शास्त्रमें राग तथा द्वेष कहा गया है। इस विषम द्वन्द्वोंमें मैं, मेरा, इष्ट, मित्र, कर्तव्य, ग्राह्य आदि वाला एक पक्ष अनुकूल तथा आकर्षक है, और तू,

तेरा, अनिष्ट, शत्रु, अकर्तव्य, त्याज्य आदि वाला दूसरा पक्ष प्रतिकूल तथा विकर्षक है। इसी प्रकार राग तथा द्वेषमें राग वाला एक पक्ष आकर्षक और द्वेषवाला दूसरा पक्ष विकर्षक है। अनुकूल पक्षोंके प्रति आकर्षित होना अर्थात् उन्हें जानने, प्राप्त करने तथा भोगने के लिये प्रवृत्त होना राग कहलाता है। इसी प्रकार प्रतिकूल पक्षोंके प्रति विकर्षित होना अर्थात् उन्हें अपनेसे दूर हटाने तथा त्याग करनेके लिये प्रवृत्त होना द्वेष कहलाता है।

परस्पर विषम होनेके कारण ये समताके विरुद्ध हैं। जिस प्रकार समता शुद्ध-हृदयका भाव है, उसी प्रकार विषमता भी उससे विरुद्ध होनेके कारण मलिन हृदयका भाव है। तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर जिस प्रकार क्षमा मार्दव आदि दश धर्म समताकी विविध स्फुरणायें हैं उसी प्रकार उनसे विरुद्ध क्रोध मान आदि विषमताकी विविध स्फुरणायें हैं। समग्रको आत्मसात् करनेके कारण समता प्रेम है और देहाध्यस्त संकीर्ण अहंके प्रति तन्मय होनेके कारण विषमता स्वार्थ है। यह बात हृदयवाले अधिकारमें बताई जा चुकी है।

राग-द्वेषका बड़ा लम्बा चौड़ा विस्तार है। निःसन्देह व्यवहार भूमिपर इसका प्रयोग ऐन्द्रिय विषयोंके ग्रहण त्यागके अर्थमें होता है, परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर व्यवहार-चारित्र्यके क्षेत्रमें जो 'शुभे प्रवृत्ति तथा अशुभे निवृत्ति' कही जाती है वह भी वास्तवमें राग-द्वेष ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। इस विषयकी विवेचना आगे यथास्थान की जाने वाली है। दो-दो अक्षरों वाले इन दो शब्दोंके गर्भमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनन्तों भेदोंसे युक्त सकल काषायिक जगत् स्थित है। दूसरोंको अपनेसे दूर हटानेके उद्देश्यसे प्रवृत्त होनेके कारण क्रोध तथा मान विकर्षक शक्तिसे युक्त हैं, इसलिये द्वेषमें गर्भित हैं, और दूसरी ओर अन्य

पदार्थोंको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे प्रवृत्त होनेके कारण माया तथा लोभ आकर्षक शक्तिसे युक्त हैं, इसलिये रागमें गर्भित हैं। इसी प्रकार हास्य, रति और तीनों वेद भाव आकर्षक शक्तिसे युक्त होनेके कारण राग हैं और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि विकर्षक शक्तिसे युक्त होनेके कारण द्वेष हैं।

३. बन्धक हेतु

जिस प्रकार दर्शन शास्त्रमें 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः' प्रसिद्ध है, उसी प्रकार आचार शास्त्रमें 'रागद्वेषाद्बन्धः' प्रसिद्ध है। यहां राग आकर्षण शक्तिसे युक्त होनेके कारण स्निग्धके स्थानपर है और द्वेष विकर्षण शक्तिसे युक्त होनेके कारण रूक्षके स्थानपर है। जिस प्रकार परमाणुओंके मिल जाने मात्रसे वे बन्धनको प्राप्त नहीं होते, उनमें स्थित स्निग्धत्व तथा रूक्षत्वके योगसे ही वे बन्धको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार कर्मोंमें प्रवृत्ति करने मात्रसे चित्त बन्धको प्राप्त नहीं होता, उन प्रवृत्तियोंकी पृष्ठभूमिमें स्थित राग तथा द्वेषसे ही चित्त बन्धनको प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि रागद्वेष-विहीन केवल प्रवृत्ति मात्रसे जो संस्कार कार्मण शरीरपर अंकित होता है, वह अगले क्षणमें नष्ट हो जाता है। जबकि रागद्वेष-युक्त प्रवृत्तिसे होनेवाला संस्कार बहुत कालतक स्थित रहता हुआ चित्तको प्रवृत्ति करनेके लिये प्रेरित करता रहता है।

'ण य वत्थुशो बंधो, बंधो अज्जप्पजोएण ।'

अर्थात् केवल वस्तुओंके संयोग-वियोगसे बन्ध नहीं होता है, अध्यवसानसे अर्थात् रागद्वेषात्मक कषायोंसे बन्ध होता है। भावात्मक होनेके कारण इन्हें भावबन्ध कहा जाता है।

राग-द्वेषके विषयमें भेद पड़ जानेके कारण उनके द्वारा होनेवाला बन्ध भी दो प्रकारका हो जाता है। ऐन्द्रिय विषयोंके क्षेत्रमें होनेवाले व्यावहारिक राग-द्वेषसे अशुभ या पाप बन्ध होता है, और

‘अशुभे निवृत्ति शुभे प्रवृत्ति’ वाले पारमार्थिक राग-द्वेषसे शुभ या पुण्यबन्ध होता है। इस विषयकी चर्चा आगे कहीं की जाएगी।

४. फलाकांक्षा

जिस प्रकार चित्र-विचित्र अनेक विकल्पोंको हम इष्ट तथा अनिष्ट रूप एक द्वन्द्वमें गर्भित कर सकते हैं, जिस प्रकार क्रोधादि अनेक कषायोंको हम आकर्षण तथा विकर्षण शक्तिसे युक्त राग तथा द्वेष इन दो में गर्भित कर सकते हैं, इसी प्रकार राग तथा द्वेषको भी संक्षिप्त करके हम एक स्वार्थमें गर्भित कर सकते हैं। लोकालोक-व्यापी सर्वगत-ज्ञान जब अपने समग्र-ग्राही स्वरूपको छोड़कर किसी एक पदार्थके प्रति उपयुक्त हो जाता है तब वह संकीर्ण होकर अहं से अहंकार बन जाता है। इस अवस्थामें ही वह अपने भीतर इष्टानिष्ट आदि रूप विविध द्वन्द्वों की सृष्टि करता है, जो आगे चलकर राग द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं।

समग्र विश्वको युगपत् आत्मसात् करने वाला विशाल हृदय अथवा प्रेम जब एकको छोड़कर दूसरेके प्रति और दूसरेको छोड़कर तीसरेके प्रति धावमान होता है, तब वह स्वार्थ कहलाता है। इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका त्याग करना ही इसका एक मात्र प्रयोजन है। वह जो कुछ भी करता है केवल इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये करता है। निष्प्रयोजन कोई भी काम करना उसने सीखा नहीं है। जैसे अपना कोई प्रयोजन न रखकर केवल शिशुकी प्रसन्नताके लिये काम करना मातृत्व का स्वरूप है, वैसा इसका स्वरूप नहीं है। काम करनेसे पहले वह यह सोचता है कि जिस कामको करनेका मैंने संकल्प किया है उससे मेरे इस प्रयोजनकी सिद्धि होगी या नहीं। यदि उस कामसे इस फलकी प्राप्ति होती उसे दिखाई देती है तो वह काम करता है अन्यथा नहीं। इस

प्रकार फलकी आकांक्षाको हृदयमें रखकर काम करना ही इसका स्वरूप है ।

स्वार्थजन्य यह फलाकांक्षा ही वास्तवमें सकल कषायों तथा राग-द्वेषकी जननी है । कर्मके क्षेत्रमें जिस प्रकार कारणका भी कारण खोजते हुए हम राग-द्वेषपर पहुंचे हैं उसी प्रकार इस रागका भी कारण खोजते हुए हम स्वार्थपर तथा उसकी फलाकांक्षापर पहुंचते हैं । इसलिये राग-द्वेषको भी छोड़कर अब हम इस फलाकांक्षाको ही बन्धका हेतु कहेंगे, और इसे ही भाव बन्धका प्रधान तथा अन्तिम लक्षण कहेंगे ।

फलाकांक्षा युक्त स्वार्थकृत कर्म सकाम कहलाता है और उससे निरपेक्ष केवल दूसरेकी प्रसन्नताके लिये किया गया कर्म निष्काम कहलाता है । जैन दर्शन जिस कर्मको कषायसे युक्त तथा अयुक्त होनेके कारण सकषाय तथा अकषाय कहता है उसे ही अन्य दर्शनकार फलाकांक्षासे युक्त तथा अयुक्त होनेके कारण सकाम तथा निष्काम कहते हैं । दोनोंका तात्पर्य एक है । संसार-वृद्धिका हेतु होने के कारण सकषाय अथवा सकाम कर्म साम्परायिक कहा जाता है, और इसका हेतु न होनेसे अकषाय अथवा निष्काम कर्म ईर्यापथ नाम पाता है ।

स्वार्थमें सदा फल-भोगकी इच्छा रहती है । फल-भोगकी इच्छासे निरपेक्ष काम करना उसने नहीं सीखा है । इष्ट विषयोंकी प्राप्ति होती दिखती है तभी वह काममें प्रवृत्ति करता है अन्यथा नहीं । इसलिये भाव-बन्धका तथा राग-द्वेषका उपर्युक्त सकल विस्तार फल-भोगकी आकांक्षामें गर्भित हो जाता है । शास्त्रोंमें फलभोगकी आकांक्षाको 'कामना' कहा गया है । सकषाय-कर्म वाची जैन मत तथा सकाम-कर्म वाची अन्य मत इन दोनों मतोंका समन्वय करनेके लिये इस विषयका कुछ और विस्तार करना उचित है । ●

१. कामनाकी विशेषतायें

कर्म-सामान्य, कृतक कर्म, कर्म-विधान और भाव-कर्मकी विस्तृत विवेचना हो गई। उसीका और अधिक सूक्ष्मताके साथ अध्ययन करनेके लिये कामना नामक यह अधिकार प्रवेश पाता है। कृतक-कर्म तीन प्रकारके बताये गये हैं—जानना, करना तथा भोगना। इन्हींको शास्त्रीय भाषामें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व इन तीन नामोंके द्वारा अभिहित किया जाता है। ये तीनों ही कर्म सकाम तथा निष्कामके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। फलभोगकी आकांक्षा युक्त कर्म सकाम कहलाता है और उससे निरपेक्ष निष्काम। 'इस व्यापारके द्वारा धनकी प्राप्ति हो जानेपर मैं मनमाने भोग भोगूंगा' इत्याकारक आकांक्षासे युक्त होनेके कारण धनार्जनका कर्म सकाम है, और इस प्रकारके किसी भी स्वार्थसे निरपेक्ष केवल लोकसंग्रहके लिए अथवा परोपकारके लिये किये गये सकल कर्म निष्काम हैं।

यद्यपि व्यवहार भूमिपर तृष्णा, आसक्ति, लालसा, इच्छा, आकांक्षा, कामना, राग तथा वासना ये सभी शब्द एकार्थवाची

माने जाते हैं तदपि सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर इन सबके अर्थ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हुए बाहरसे भीतरकी ओर चले जाते हैं। पूर्व पूर्ववर्ती कार्य है और उत्तर-उत्तरवर्ती उसका कारण है। इन सबकी पृष्ठभूमिमें सुखानुभूतिकी वह स्मृति बैठी रहती है जो कि अपने विषयके भोगाभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारके रूपमें चित्तके अक्षय-कोषमें पड़ी हुई है। वह संस्कार ही अन्तिम कारण है। इस संस्कारके कारण चित्तपर जो स्मृतिका रंग चढ़ गया है वह 'वासना' शब्दका वाच्य है। संस्कारके कोषमें से निकलकर वह वासना जब 'इदं' का रूप धारण कर लेती है और चित्तके समक्ष आ उपस्थित होती है तब वह 'राग' कहलाती है। यह राग जब बुद्धिमें प्रवेश करके विषय-प्राप्तिके लिये उसमें चुटकियां भरने लगता है तब 'कामना' शब्दका वाच्य बन जाता है। यह कामना ही जब अहंकारकी भूमिमें आकर उसे उतावला करनेके लिये प्रेरित करने लगती है तब 'आकांक्षा' कहलाती है। यह आकांक्षा ही जब मनमें प्रवेश पाकर उसे इतना बेचैन कर देती है कि वह बहिर्करणको विषय प्राप्तिके प्रति नियोजित करनेमें एक क्षणकी भी प्रतीक्षा सहन नहीं कर सकता तब 'इच्छा' कही जाती है। किसी स्वादिष्ट पदार्थको देखकर जिस प्रकार लम्पट जीवोंके मुखसे राल टपकने लगती है, उसी प्रकार जब इन्द्रियां उस विषयके प्रति लालायित हो उठती हैं तब इच्छा ही 'लालसा' कहलाती है। विषयके प्राप्त हो जानेपर जब चित्त उसके साथ इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि 'अहं' का लोप होकर केवल 'इदं' शेष रह जाये, तब लालसा 'आसक्ति' का रूप धारण कर लेती है। इस आसक्तिके फलस्वरूप जब मनमें किसी एक विषयको निरन्तर पुनः पुनः प्राप्त करनेकी इच्छा होने लगती है तब वह 'तृष्णा' कहलाती है। वासनाकी सूक्ष्म भूमिसे इच्छाकी स्थूल भूमितक आनेके क्रममें कामना क्योंकि मध्यवर्ती है, इसलिये यहां उसी शब्दका प्रयोग

किया गया है। व्यवहार भूमिपर किसी भी एक शब्दके कहनेसे यह सकल अर्थ ग्रहण हो जाता है, इसलिये शब्द प्रयोगमें कोई विरोध नहीं है, अर्थ समझना चाहिये।

२. कर्मफल

अब हम पुनः अपने विषयपर आते हैं। ऊपर कहा गया है कि फल-भोगकी आकांक्षासे युक्त कर्म सकाम कहलाता है। 'फल भोगकी आकांक्षा क्या' इस विषयका यहां थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। सकाम या निष्काम कोई भी कर्म क्यों न हो, उसका फल अवश्य होता है। ऐसा होना सम्भव नहीं कि कर्म किया जाये और उसका फल हमें प्राप्त न हो। फलका सीधा अर्थ यद्यपि दुःख अथवा सुखकी प्राप्ति है तदपि दुःख सुखका हेतु होनेसे विषय-प्राप्ति भी इसका परम्परा फल कहा जा सकता है। अतः फल-प्राप्ति कर्तृत्वके आधीन न होकर भोक्तृत्वके आधीन होती है। बीज बोनेका तथा उसे निरन्तर सिंचित करनेका काम हम कर सकते हैं परन्तु आम उत्पन्न करना हमारा काम नहीं है। वह हमारे कामके फलस्वरूप यथासमय स्वयं होता है। हम पाठका पुनः पुनः उच्चारण करनेका काम कर सकते हैं, परन्तु याद करना हमारा काम नहीं। याद तो उसके फलस्वरूप स्वयं होता है। जिसको अधिक योग्यता है उसे जल्दी होता है और जिसे कम योग्यता है उसे देरमें। कर्मका यथेष्ट ही फल हो यह भी कोई आवश्यक नहीं, कभी कभी वह पूरा होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है जैसे कि गर्भमें ही बालकका क्षय, और कभी-कभी वह हमारी इच्छाके विपरीत भी हो जाता है जैसेकि रोग-शमनके लिये दी गयी औषधि कभी-कभी रोगीको मार भी देती है।

इतने कथनपर से कर्मफलके विषयमें चार सिद्धान्त निर्धारित होते हैं। १—कर्मका फल अवश्य होता है। २—वह सर्वथा

हमारी इच्छा के अनुसार हो यह आवश्यक नहीं, कभी कम हो जाता है, कभी अधिक और कभी विपरीत। ३—कर्म करनेकी भाँति फल प्राप्तिमें हमारा अधिकार नहीं है। वह होता है किया नहीं जाता। ४—चौथी बात यह है कि कर्म वर्तमानमें होता है और फल भविष्यमें, और कभी-कभी दूर भविष्यमें। आज बीज बोया और ६ वर्षके पश्चात् आम प्राप्त हुए। आज किसीका उपकार किया और ५० वर्षके पश्चात् अवसर प्राप्त होने पर उसका प्रत्युपकार मुझे प्राप्त हुआ।

३. कामना त्याग ही कर्म त्याग

कामना केवल फलभोगकी ही हो ऐसा नहीं है, जानने तथा करनेकी भी होती है। बिना इच्छाके किसी भी काममें प्रवृत्त होना सम्भव नहीं, वह काम जाननेका हो या कुछ करनेका हो और या भोग भोगनेका हो। लौकिक कार्यों की तो बात नहीं, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति भी मुमुक्षाके बिना सम्भव नहीं। लोक-संग्रहके अर्थ अथवा परोपकारके अर्थ किये गये काममें भी इच्छा अवश्य रहती है। अपने शिष्यको पढ़ानेमें प्रवृत्त गुरुके हृदयमें भी यह इच्छा अवश्य होती है कि यह शीघ्र पढ़ लिखकर योग्य हो जाये। किसी अपरिचित रोगीकी सेवा करनेमें भी यह इच्छा अवश्य होती है कि यह शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ कर ले। इस प्रकार जब कोई भी कर्म इच्छा या कामनाके बिना सम्भव नहीं तब किसी कर्मको सकाम अथवा किसीको निष्काम कैसे कहा जा सकता है।

प्रश्न बहुत मर्मका है, लीजिये मैं सकाम तथा निष्कामकी सूक्ष्म सन्धिको स्पष्ट करता हूँ। वासना आदिका क्रम बताते हुए मैं यह बता चुका हूँ कि किसी भी कार्यके दृष्टिपथमें आनेसे पहले आभ्यन्तरके सूक्ष्म जगत्में बहुत कुछ हो चुका होता है। चित्तके कोषमें स्थित संस्कार ही ज्यों-ज्यों अभिव्यक्तिकी ओर उन्मुख होता

होता है, त्यों-त्यों उत्तरोत्तर स्थूल होता हुआ कार्यके रूपमें परिणत होता चला जाता है। इसलिये कार्यका त्याग करनेसे कर्मका त्याग नहीं होता है, कारणका त्याग करनेसे होता है। डाली काटनेसे वृक्ष नष्ट नहीं होता, मूलोच्छेदनसे नष्ट होता है। जिस प्रकार एक डाली काट देनेसे उसी स्थानपर एक दूसरी डाली उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार एक कार्यका त्याग कर देनेसे तुरन्त दूसरे कार्यमें प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है। इस हेतुसे ज्ञानीजन कार्यको न पकड़कर कारणको पकड़ते हैं। कुत्ता बन्दूकसे निकली गोलीको पकड़ता है, जबकि सिंह गोली तथा बन्दूकको न पकड़कर बन्दूक चलाने वालेको पकड़ता है। यही सिद्धान्त यहाँ भी लागू कीजिये। कर्म-त्यागका उपदेश वास्तवमें कर्म-त्यागके लिये न होकर कामना-त्यागके लिये है। वासना-त्यागका उपदेश संस्कारोच्छेदके लिये, संस्कारोच्छेदका उपदेश बन्धच्छेद या पारतन्त्र्योच्छेद के लिये, पारतन्त्र्योच्छेदका उल्लेख तन्मूलक आभ्यन्तर दुःखोच्छेदके लिये और दुःखोच्छेदका उल्लेख निराकुल सुखकी प्राप्तिके लिये है। जिस प्रकार अन्धकारका विनाश तथा प्रकाशकी प्राप्ति दोनों एक ही बात है, उसी प्रकार आभ्यन्तर दुःखका उच्छेद तथा निराकुल सुखकी प्राप्ति वास्तवमें एक ही बात है।

गुरुओंका यह आशय स्पष्ट हो जानेपर हमें यह कहनेमें कोई कठिनाई नहीं है, कि दोनों ही कर्मोंमें समान रूपसे कामना विद्यमान होते हुए भी इनमें कुछ विशेषता अवश्य है। वह विशेषता यह है कि सकाम कर्मकी कामना फल-भोगकी आकांक्षासे युक्त होनेके कारण बन्धनकारी है और निष्काम कर्मकी कामना फल-भोगसे निरपेक्ष केवल दूसरेकी प्रसन्नता या हितके लिये होनेके कारण बन्धनकारी नहीं है।

●

२५ सकाम-निष्काम कर्म

१. चित्त-बन्धन

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्मका सम्बन्ध वर्तमान कालके साथ है और उसके फलका भविष्यत् कालके साथ। इसलिये काम करना मात्र ही जहां इष्ट है उस निष्काम कर्मकी कामना केवल वर्तमानके साथ सम्बद्ध है, जबकि फल-भोगके साथ जुड़ी होनेके कारण सकाम कर्मकी कामना वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यत्के साथ अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि वह काम करनेसे पहले भविष्यत्की ओर दौड़ लगाती है और वहां बैठकर एक लम्बा चौड़ा वैकल्पिक जगत् बसा लेती है। 'मेरा यह काम सफल हो गया तो मेरे पास एक महल होगा, मोटर गाड़ियां होंगी, दासी-दास होंगे, सारे समाजमें मेरा सम्मान होगा। तब अपने मित्रोंपर अनुग्रह करूंगा और अपने द्वेषियोंको नीचा दिखाऊंगा। कदाचित् यह काम सफल नहीं हुआ तो इसमें लगाई गई सारी पूंजी बरबाद हो जायेगी, मैं वर्तमानसे भी अधिक गया बीता हो जाऊंगा, किसीको मुंह दिखाने योग्य नहीं रहूंगा, हो सकता है कि भीख मांगनी पड़े' इत्यादि। काम प्रारम्भ करनेसे पहले तथा काम

करनेके कालमें तो यह विकल्प रहते ही हैं, काम पूरा हो जानेके पश्चात् भी वे समाप्त नहीं होते। सफल होनेपर हर्ष और असफल होने पर विषाद। दोनों ही अवस्थाओंमें आगामी जीवन विषयक विविध कल्पनायें जिनका कहीं अन्त दिखाई नहीं देता। यही तो है चित्तका सबसे बड़ा बन्धन। जिससे मुक्ति पानेके लिये फलाकांक्षाका निषेध किया गया है।

२. स्वार्थ

दूसरी बात यह है कि फलाकांक्षाके साथ सदा तीन बातें संलग्न रहती हैं—स्वामित्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व। बिना स्वामित्वके किसी विषयका भोग सम्भव नहीं। दूसरेकी वस्तुको जाना जा सकता है पर उसके विषयमें इसे 'मैं भोगूँ' ऐसी इच्छा नहीं हो सकती। उस विषयपर स्वामित्व प्राप्त करनेके लिये कर्तृत्व आवश्यक है। बिना पुरुषार्थके कोई बाह्य विषय स्वतः प्राप्त नहीं हो जाता। इस प्रकार फलाकांक्षाके गर्भमें तीनों भाव स्थित हैं। अहंकारके राज्यमें होनेके कारण ये तीनों भाव स्वार्थ कहलाते हैं। पर-हितार्थ होनेके कारण निष्काम कर्म स्वार्थसे विपरीत है, उसमें ये तीनों भाव सम्भव नहीं।

बालक माता-पिता अथवा गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य करके केवल अपना कर्तव्य पालन करता है, उस कामसे प्राप्त लाभ-हानिके साथ अथवा उसके द्वारा प्राप्त किसी पदार्थके स्वामित्वके साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं। जो कुछ भी लाभ, हानि या प्राप्ति अप्राप्ति होती है वह सब माता-पिता या गुरुकी है, जिसके लिये चिन्तामें पड़नेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं। काम करनेसे पहले जिस प्रकार खेल रहा था, काम करनेके पश्चात् भी उसी प्रकार खेल रहा है। उसे न कर्म जनित हर्ष है न विषाद, न ही 'यह काम

मैंने किया' इस प्रकारका कोई अहंकार है। काम करनेके समय भी उसकी बुद्धिपर कोई भार नहीं है। यह निष्काम कर्म का उदाहरण है।

इसके विपरीत स्वार्थानुरंजित होनेके कारण सकाम-कर्मकी प्रवृत्ति कषायमूलक होती है। स्वार्थ केवल अपने विषयको प्राप्त करना जानता है, न्याय-अन्यायकी चिन्ता करना नहीं। इसलिये वह अनेकों प्रकारका मायाचार तथा छल कपट करता है, झूठ बोलता है, चोरी छप्पा करता है, दूसरोंको ठगता है। किसीको मेरी इस प्रवृत्तिसे कितना कष्ट हो रहा है इस चिन्तामें पड़नेके लिये उसके पास हृदय ही कहां है। जिस किस प्रकार अधिकाधिक संचय करते रहना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है।

कदाचित् पुण्योदयसे उसकी किञ्चित् पूति हो जानेपर उस एक ओर तो अपने कर्तृत्वका अभिमान हो जाता है, और दूसरी ओर प्राप्त-विषयको भोगने के प्रति रति तथा आसक्ति। इसीप्रकार किसी अशुभ कर्मके उदयसे यदि कदाचित् उसमें कुछ विघ्न पड़ जाये तो विघ्न करने वालेके प्रति जुगुप्सा तथा क्रोध, और दूसरी ओर नैराश्य, शोक, अरति तथा भय। इस प्रकार जीवन्तको क्लुषित करनेवाली समस्त कषायोंका और उसे तमाच्छन्न करनेवाले समस्त पापोंका एकमात्र कारण स्वार्थ है। फलाकांक्षा की भूमि होनेके कारण वही लोभ है, जिसे पाप का बाप कहा गया है।

३. कर्म भी अकर्म

स्वार्थसे अस्पृष्ट होनेके कारण परार्थ तथा परमार्थ दोनों ही प्रकारके कर्मोंमें यह सम्भव नहीं, क्योंकि पर-हितके लिये अथवा लोकोपकारके लिये किये गये सकल कार्यबालककी भांति केवलकर्तव्य बुद्धिसे किये जाते हैं और इसी प्रकार सकल पारमार्थिक कार्य भी।

यद्यपि परार्थ तथा परमार्थमें भी शीघ्र सफल होनेकी इच्छा वाला स्वार्थ अवश्य होता है, परन्तु फलभोगकी आकांक्षा न होनेके कारण वह स्वार्थ स्वार्थ नहीं कहलाता। इसलिये बाहरमें कर्म करते हुए भी भीतरमें वह कुछ नहीं करता। अध्यात्म-मार्गमें क्योंकि भीतर ही प्रधान है बाहर नहीं, इसलिये उसे अकर्ता तथा उसके कर्मको अकर्म माना गया है।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते, नेति प्रतीमो वयम् ।

ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते, कर्मेति जानाति कः ॥

इसका यह अर्थ नहीं कि अपने कर्मका फल वह सर्वथा नहीं भोगता अथवा उसके द्वारा प्राप्त विषयका वह सर्वथा सेवन नहीं करता। वह उसका सेवन अवश्य करता है परन्तु भोगविषयक लालसा तथा आसक्ति न होनेके कारण बाहरमें उसे सेवता हुआ भी वह भीतरमें उसे नहीं सेवता। विपरीत इसके भोगासक्तिवाले व्यक्तिका चित्त बाहरमें उसका सेवन न करते हुए भी कल्पनाओंके द्वारा भीतरमें उसका सेवन करता रहता है।

४. समन्वय

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व, ये तीनों ही कर्म सकाम भी होते हैं और निष्काम भी। व्यवहार भूमिपर इनके विषयमें जो कुछ भी प्रसिद्ध है अथवा दृष्ट, श्रुत तथा परिचित है वह सब वास्तवमें सकाम है, निष्काम नहीं। हृदय भूमिमें प्रवेश किये बिना निष्काम पक्षका ग्रहण सम्भव नहीं। इसलिये जब भी कभी कोई वक्ता निष्काम पक्षके विषयमें कुछ कहने अथवा समझानेका प्रयत्न करता है तब उसके अभिप्रायको स्पर्श करनेमें असमर्थ होनेके कारण अथवा वह विषय अदृष्ट, अश्रुत तथा अननुभूत होनेके कारण श्रोताके समक्ष सकाम पक्ष ही उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थितिमें निष्काम कर्मके विषयमें शंकायें हो जाना स्वाभाविक है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि कामनाकी भाँति फलाकांक्षाका भी सर्वथा अभाव होना व्यवहार भूमिपर सम्भव नहीं। लौकिक क्षेत्रकी तो बात नहीं साधना क्षेत्रमें भी पूर्णकाम-भगवन्तोंको छोड़कर अन्य किसीको भी शत-प्रतिशत ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती है। साधक कितना भी ऊँचा क्यों न हो अपनी-अपनी भूमिकाके अनुसार उसमें हीन या अधिक फलाकांक्षाका सद्भाव अवश्यम्भावी है। बाह्य किसी पदार्थके प्रति न भी हो, अपनी उस स्थितिके प्रति तो अहंकार होता ही है। 'यहां तक तो मैं आ चुका हूँ, इससे आगे और बढ़ूँ' इत्याकारक कर्तृत्व विषयक कामना तथा 'इस स्थितिके रसपानमें अधिकसे अधिक टिक सकूँ' इत्याकारक ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व विषयक सूक्ष्म कामना सिद्धान्तके अनुसार भी १०वें गुणस्थान तक रहती है।

शंका उचित है, परन्तु यहाँ सिद्धान्त बताया जा रहा है, व्यवहार नहीं। सिद्धान्त पूर्णका प्रतिपादन करता है, क्योंकि स्वभावमें पूर्णता अपूर्णताका प्रश्न नहीं होता। पूर्णता, अपूर्णता अथवा गुणस्थानकी चर्चा आचार पक्षमें होती है। इसलिये साधक दशामें इस सिद्धान्तका आंशिक प्रयोग ही सम्भव है। जितने अंशमें फलाकांक्षा विद्यमान है उतने अंशमें उसे बन्ध अवश्य है, और जितने अंशमें फलाकांक्षाके अभाव रूप चारित्र्य अथवा समता विद्यमान है उतने अंशमें उसे बन्ध नहीं होता है।

येनांशेन तु चारित्र्यं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥



१. स्वामित्व बुद्धि

कर्म तथा उसके करणों आदि के विषयमें विवेचना पूरी हुई। अब बन्धन विषयक विवेचना प्रवेश पाती है। सकषाय कर्म अथवा सकाम कर्मको बन्धनकारी कहा गया है, परन्तु 'बन्धन क्या' यह पता नहीं चला। इस शंकाको समाहित करनेके लिये मैं आपको अहंकारके स्वरूपकी स्मृति दिलाता हूँ। न हो तो एक बार उस अधिकारको पुनः पढ़ लीजिये। समग्रको आत्मसात् न करके उसमें प्वायंट लगाना और उस प्वायंटको आत्मसात् करना अहंकार है। अपने विश्वव्यापी रूपको छोड़कर ज्ञानस्वरूप पूर्ण अहंका इस प्रकार संकीर्ण हो जाना ही उसका स्वरूप है। करणोंका आश्रय लेकर एकके पश्चात् एक पदार्थका ग्रहण करते हुए अपनेको पूर्ण करनेकी कल्पना करना उसकी यह अतृप्त कामना है जो आज तक न कभी पूरी हुई है और न आगे पूरी होनी सम्भव है।

इस प्रकार अहंकार कहनेसे कामनाका और कामना कहनेसे अहंकारका अनुक्त ग्रहण हो जाता है। अहंकारके बिना कामना

और कामनाके बिना अहंकार रहता नहीं। 'मैं जानूँ', 'मैं करूँ', 'मैं भोगूँ' ऐसी त्रिविध कामना क्योंकि अहंकारकी उपज है इसलिये उससे युक्त सकाम कर्मको बन्धनकारी कहा गया है। इसका भी कारण यह है कि इस त्रिविध कामनाके हेतुसे अहंकारको अपने उस कर्ममें अथवा उसके द्वारा प्राप्त सुख दुःख आदि रूप फलमें ममकार हो जाना स्वाभाविक है। मेरा पदार्थ, मेरा कर्म, मेरा सुख, मेरा दुःख इत्याकारक मेरापना ही उसका स्वरूप है, जिसे शास्त्रोंमें स्वामित्व बुद्धि कहा गया है। इस स्वामित्वके कारण अहंकार उस विषयके साथ चिपका रहता है अर्थात् विकल्पोंका रूप धारण करके उसकी परिक्रमा करता रहता है। इस प्रकार बाहरकी कोई वस्तु अहंकारको नहीं चिपटती और न ही आभ्यन्तर ज्ञानका 'इदं' ही उसे चिपटता है। इन विकल्पोंके द्वारा 'अहं' ही इदंके साथ चिपटा रहता है, अपनेको भूलकर 'इदं' की उपासनामें जुटा रहता है। अहंकार कहनेसे पूर्ण अन्तर्ष्करणका ग्रहण हो जाता है, यह पहले बताया जा चुका है। क्योंकि उसे अबतक 'चित्त' शब्दके द्वारा अभिहित किया जाता रहा है, इसलिये अहंकार शब्दको छोड़कर हम पुनः चित्त शब्दको पकड़ लेते हैं।

२. चित्तबन्धन

चित्त जब अपने चैत्य (ज्ञेय) का चैता (ज्ञाता) मात्र न रहकर उसका स्वामी बन जाता है, तब उसे उसके साथ बन्धा हुआ कहा जाता है। सो कैसे? वह बताता हूँ। यह बात पहले बताई जा चुकी है कि द्विधा विभक्त ज्ञानका अहंतावाला विभाग चित्तका निज स्वरूप है और उसके समक्ष उपस्थित इदंतावाला विभाग उसका चैत्य अथवा ज्ञेय है। ज्ञानाकार होनेके कारण 'अहं' का रूप यद्यपि आदिसे अन्ततक एक रहता है, परन्तु संकीर्ण होनेके कारण अथवा अतृप्त कामनाके कारण 'इदं' का रूप बराबर

बदलता रहता है। यही कारण है कि जबतक अहं कल्पनाके द्वारा 'अहं' की उपासनामें संलग्न रहता है अर्थात् 'इदं' को अहंके आकारका कल्पित करके उसका ध्यान करनेमें मग्न रहता है तब तक उसके साथ एकाकार होनेके कारण वह स्थिर तथा शान्त रहता है, बदलता नहीं है। परन्तु जब उसके समक्ष उपस्थित यह इदं विषयाकार हो जाता है तो उसके साथ तल्लोन होनेके कारण 'अहं' भी ज्ञानाकार न रहकर विषयाकार बन जाता है। क्योंकि 'इदं' का यह रूप एक-एक आकारको छोड़कर अन्य-अन्य आकारको धारण करता हुआ बराबर आगेकी ओर बढ़ता रहता है, इसलिये उसके साथ तन्मय होनेके कारण न चाहते हुए भी 'अहं' को धावमान अथवा क्षुब्ध होना पड़ता है। जिस प्रकार नदीकी किसी एक तरंगको देखनेवाली दृष्टि तरंगके साथ आगे-आगे चली जाती है, इसी प्रकार 'इदं' के साथ बन्धा हुआ 'अहं' भी उसके साथ आगे-आगेको बहने लगता है। बस यही है उसका बन्धन।

बाह्य हो या आभ्यन्तर इस 'इदं' में स्वामित्व बुद्धि होनेपर चित्तको इसी प्रकार उसका अनुसरण करना पड़ता है जिस प्रकार कि गायको गलेमें बन्धी हुई रस्सीका। देखिये यह मेरी घड़ी है, इसके टूटने, फूटने अथवा बिगड़ जानेपर मेरा चित्त भी टूटने, फूटने तथा बिगड़ने लगता है। यदि कोई इसे चुरा कर ले जाने लगता है तो मेरा चित्त भी उसके साथ बन्धा हुआ इसके पीछे-पीछे चलने लगता है। यदि यह घड़ी केवल घड़ी हो हुई होती, परन्तु 'मेरी' न हुई होती तो इसके टूटने, फूटने, बिगड़ने अथवा चुराई जानेपर मेरे चित्तमें इस प्रकारकी प्रतिक्रिया न हुई होती। इससे सिद्ध होता है कि चित्त 'इदं' के साथ बन्धा हुआ है। तत्त्वतः वह साक्षात् रूपसे इसके साथ बन्धा हुआ नहीं है, परम्परा रूपसे बन्धा हुआ है। चित्त अहंकारके साथ बन्धा है, अहंकार स्वामित्व

या ममकारके साथ बन्धा है, स्वामित्व या ममकार अतृप्त कामनाके साथ बन्धा है और यह कामना 'इदं' के साथ बन्धी हुई है। इस प्रकार अनेक कड़ियोंकी यह परम्परागत शृंखला ही चित्तका बन्धन है, बाहरकी वस्तु केवल उसकी निमित्त मात्र है। उसके अभावमें भी क्योंकि चित्त अपने भीतर कल्पनाके द्वारा उसका निर्माण स्वयं कर लेता है, इसलिये उसके लिये बाहरकी वस्तु हो या न हो दोनों बातें समान हैं।

३. स्वार्थ तथा परार्थ

समग्रको छोड़कर उसके अंगभूत किसी एक पदार्थपर केन्द्रित कामना क्योंकि स्वयंकी तथा अहंकारकी तृप्तिके प्रयोजनसे होती है, इसलिये वह स्वार्थ कहलाती है; परन्तु समग्रको हस्तगत करनेकी कामना क्योंकि अहंकारको पूर्णाहंता प्रदान करनेके प्रयोजनसे होती है, इसलिये वह परमार्थ कहलाती है। इसी प्रकार परोपकारकी कामना क्योंकि दूसरोंका हित करनेके लिए होती है, इसलिये वह परार्थ कहलाती है। कामना तीनोंमें समान है परन्तु फलभाग की आकांक्षासे युक्त होनेके कारण स्वार्थ-रञ्जित कामना बन्धनकारी है परमार्थ-रञ्जित तथा परार्थ-रञ्जित नहीं।

अन्य पदार्थोंमें चित्तकी यह स्वामित्व बुद्धि वास्तवमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वके कारणसे होती है। 'इस पदार्थको प्राप्त करनेके लिये मैं यह काम करूँ' इत्याकारक कामनासे प्रेरित होकर जो काम मैं करता हूँ उसीमें 'यह काम मैंने किया' ऐसा अहंकार होता है। इसीलिये उस कार्यमें तथा उसके द्वारा प्राप्त वस्तुमें मेरा स्वामित्व सहज हो जाता है। दूसरी ओर जिस कामको मैं केवल दूसरेकी प्रसन्नताके लिये करता हूँ उसमें तथा उसके द्वारा प्राप्त फलमें मेरा स्वामित्व भी नहीं होता है। अपने स्वामीके लिये किये गये काममें तथा उससे प्राप्त हानि-लाभमें मैंनेजरकी आत्मबुद्धि

नहीं होती है। इसलिये कर्तृत्वकी अहंकार-युक्त कामना ही स्वामित्व बुद्धिकी जननी है।

किसी कामको करनेकी अथवा किसी पदार्थको प्राप्त करनेकी अथवा उसके विषयमें जानकारी प्राप्त करनेकी स्वार्थ कामना क्योंकि भोक्तृत्वके कारणसे होती है, इसलिये जिस पदार्थके भोगमें मुझे रस आता है उसे ही जानने अथवा प्राप्त करनेके लिये मैं उद्यम करता हूँ। विपरीत इसके जो पदार्थ भोगनेमें मुझे कटु लगता है उसको जानने अथवा करनेकी इच्छा मैं नहीं करता, और अपने पास रखनेकी बजाय फेंक देना या दूसरेको दे देना मैं अच्छा समझता हूँ। इसलिये यह सिद्ध होता है कि ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्वकी कामनाका और उसके द्वारा होनेवाली स्वामित्व बुद्धिका एक मात्र कारण फलभोग अथवा सुख-संवेदन है। 'आत्मको हित है सुख' यहांसे ही सकल पुरुषार्थ प्रारम्भ होते हैं।

फलभोगकी आकांक्षा रूप यह भोक्तृत्व अथवा सुख-संवेदन ही वास्तवमें वह स्वार्थ है जिसे कि सकल बन्धनोंका, सकल कषायोंका, सकल अनीतियोंका तथा सकल पापोंका बीज बताया गया है। यद्यपि यह छोटी-सी बात दिखती है तदपि यह कितनी बड़ी है इसे ज्ञानी-जन ही जानते हैं। इसके प्रभावको जाननेसे वह विवेक उत्पन्न होता है जिससे कि साधक असत्यसे बचकर सत्यकी ओर गति कर सके।

●

२७. जीवन्मुक्ति

१. द्वन्द्व

लीजिये अब स्वार्थके विश्व-विजयी प्रभावका थोड़ा सा दर्शन कीजिये। इसकी शक्ति अचिन्त्य है। यह शून्यमें सृष्टि करता है, बिना उपादानके जगत् खड़ा करता है, बिना मिट्टीके घड़ा बनाता है। इसके कारण ही भीतरमें द्वन्द्वात्मक जगत् बसता है। द्वन्द्व अर्थात् परस्पर विरोधी दो-दो पक्ष। इष्ट-अनिष्ट, सुन्दर-असुन्दर, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मम-तव, सज्जन-दुर्जन, मित्र-शत्रु कंचन-पाषाण, महल-मसान इत्यादि।

जिस पदार्थको भोगनेमें मुझे रस आता है वह मेरे लिये इष्ट है तद्व्यतिरिक्त अन्य सर्व अनिष्ट हैं। जो इष्ट है वही सुन्दर है तथा ग्राह्य है, जो अनिष्ट है वह असुन्दर है तथा त्याज्य है। ग्राह्यको प्राप्त करना और त्याज्यको त्यागना मेरा कर्तव्य है, तद्व्यतिरिक्त अन्य सब अकर्तव्य हैं। कर्तव्य-कर्म करना पुण्य है, और अकर्तव्य-कर्म करना पाप है। 'मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया' ऐसी सन्तुष्टि-का जनक होनेसे पुण्य सुख है, इसके विपरीत पाप दुःख है। सुख

जीवन है और दुःख मरण है। सुख-सम्पादक सामग्री मम है और दुःख-सम्पादक सामग्री तव है। मेरे सुखमें सहायक होनेसे व्यक्ति सज्जन तथा मित्र है, सुख-विघातक तथा दुःखवर्धक होनेसे वही दुर्जन तथा शत्रु है। सज्जन, मित्र, कांचन तथा महल इष्ट हैं, दुर्जन, शत्रु, मसान तथा पाषाण अनिष्ट हैं।

विस्तार जितना करो कम है। एक-एक द्वन्द्वकी शाखायें तथा उपशाखायें अनन्त हैं। जिस प्रकार कोशकार (रेशमका कीड़ा) अपने ही भीतरसे तन्तु निकालकर उसे अपने ही ऊपर लपेटता रहता है, उसी प्रकार फल-भोगकी आकांक्षासे युक्त चित्त भी अपने ही भीतरसे इष्ट-अनिष्ट आदि विविध द्वन्द्व उत्पन्न करके उन्हें अपने ऊपर लपेटता रहता है, और कोशकारकी भांति उसमें जकड़कर लाचार हो जाता है। सत्य-असत्यका, हित-अहितका अथवा स्व-परका समस्त विवेक भूल जाता है। द्वन्द्व जिधर खींचकर ले जाते हैं उधर ही उसे जाना पड़ता है। बस यही बन्धन है।

परस्पर विरोधी दो पक्षवाले इन सकल द्वन्द्वोंकी पृष्ठभूमिमें सर्वत्र सर्वदा एक इष्टानिष्ट वाला आद्य द्वन्द्व ही नृत्य कर रहा है। इष्टताके प्रति आकर्षण और अनिष्टताके प्रति विकर्षण होना स्वाभाविक है। आकर्षण राग है, और विकर्षण द्वेष। यह राग-द्वेष ही वह भावकर्म है जिसे कि शास्त्रोंमें बन्धका प्रधान हेतु कहा गया है।

निःसन्देह व्यवहार भूमि पर 'राग-द्वेष' शब्दका प्रयोग सर्वत्र ऐन्द्रिय भोगोंके प्रति प्रसिद्ध है, तदपि इसकी विशाल कुक्षि पारमार्थिक भोगकी आकांक्षाको भी अपने भीतर लिये बैठी है। पारमार्थिक साधनाके क्षेत्रमें व्रत, त्याग आदि का जो उपदेश आचार-शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है, तात्त्विक दृष्टिसे देखने पर उसमें भी राग-द्वेष तो है ही। यह सुनकर चौंक न जाना। यहाँ तात्त्विक

सत्यकी आकांक्षा की जा रही है, आचार शास्त्रका स्मरण नहीं। हमें तो केवल यह बताना है कि यहाँ भी कुछ आकर्षण विकर्षण है या नहीं। शुभमें प्रवृत्ति अशुभसे निवृत्त। देव पूजा आदि किन्हीं विषयोंका ग्रहण और विषय-भोग आदि किन्हीं विषयोंका त्याग। यही तो 'राग-द्वेष' है।

यह बात अवश्य है कि भोगाकांक्षा वाले लौकिक राग-द्वेष में तथा आत्मकल्याणकी आकांक्षावाले पारमार्थिक राग द्वेषमें आकाश-पातालका अन्तर है। लौकिक राग-द्वेष से जहाँ विषयासक्तिकी वृद्धि होती है वहाँ ही पारमार्थिक राग-द्वेष से उसकी हानि होती है। लौकिक राग-द्वेष से जहाँ क्रोधादि कषायोंकी उत्पत्ति होती है वहाँ ही पारमार्थिक राग-द्वेषसे उनकी हानि होती है। लौकिक राग-द्वेष से जहाँ अशुभ अथवा पापका बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है, वहाँ ही पारमार्थिक राग-द्वेष से शुभ अथवा पुण्यका बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है। इतना कुछ होनेपर भी हैं तो आखिर वे राग-द्वेष ही। और इनके द्वारा होनेवाले पाप अथवा पुण्यका बन्ध भी है तो आखिर बन्ध ही। राग हो या द्वेष, पुण्य हो या पाप, हैं तो सब परस्पर विरोधी द्वन्द्व ही।

२. द्वन्द्व-मुक्ति

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि चित्त इन द्वन्द्वोंको किस प्रकार काटता है। बाह्य दृष्टिसे देखनेपर भले ही यह बात असम्भव सरीखी हो परन्तु आभ्यन्तर दृष्टिसे देखने पर यह कुछ कठिन काम नहीं है। केवल सत्यासत्य विवेक जागृत करना है। तनिक यह विचारिये कि क्या इन द्वन्द्वोंमें तनिक मात्र भी कुछ सत्य है या कोरी कल्पनायें हैं। अपने नाम तथा रूपको लेकर कोई पदार्थ

बाहरमें अवस्थित है, यहाँतक तो ठीक है, परन्तु 'यह इष्ट है या अनिष्ट' यह बात कहाँ से आई ? इष्टता-अनिष्टता, अथवा सुन्दरता-असुन्दरता आदि उस पदार्थमें कहाँ बैठे हैं। सब कुछ अपने विकल्पोंपर निर्भर है। मेरी अपनी अभिरुचि के द्वारा लगाई गयी मुहरें हैं, अन्य कुछ नहीं। बस इतना समझ लेना पर्याप्त है। इतना समझ लेनेपर जब इष्टता तथा अनिष्टता ही लुप्त हो जायेगी तो फिर ग्राह्य-त्याज्य तथा शुभ-अशुभ आदि के विकल्प कहाँ ठहरेंगे ?

द्वन्द्वोंसे मुक्ति पानी है, बाह्य विषयोंसे नहीं। यही कर्म-सिद्धान्तका प्राण है। इसे ठीकसे अवगत न करनेके कारण ही आजका साधक इन द्वन्द्वोंसे छूटनेका प्रयत्न करनेकी बजाय इनमें अधिक-अधिक उलझना अपने लिये श्रेयस्कर समझ बैठा है। यही कारण है कि समताकी निर्भीक घोषणा सुनकर साधकका चारित्र्य इस प्रकार गरज उठता है जिस प्रकार कि नियति या कर्मवादकी बात सुनकर लौकिक पुरुषार्थ। शान्त हो प्रभु शान्त हो। यहाँ किसी पक्षकी हठ नहीं की जा रही है। एक सिद्धान्त है, शास्त्र तथा अनुभव दोनों उसमें प्रमाण हैं। समझो अथवा न समझो अथवा समझकर भी तदनुसार प्रवृत्ति करनेका प्रयत्न करो या न करो, यह आपकी इच्छा है।

यह बात सत्य है कि निचली भूमिकाओंमें साधकके लिये इन द्वन्द्वोंका आश्रय लेना अनिवार्य है, परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर ये रागद्वेषात्मक विकल्पोंके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। तत्त्व विधि-निषेधसे अतीत है। साधनाके पथपर अग्रसर होनेवाला पथिक ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है त्यों-त्यों ये द्वन्द्व शिथिल पड़ते जाते हैं, स्वयं ढीले होते जाते हैं। अन्तिम सोपानपर पहुँचनेपर जब ये निःशेष हो जाते हैं तब न कुछ विधि रहती है और न निषेध, न

ग्राह्य न त्याज्य, न कर्त्तव्य न अकर्त्तव्य, न पुण्य न पाप । यही है प्रतिक्रमण तथा अप्रतिक्रमणसे अतीत वह तृतीय भूमि जिसे कि ज्ञानियोंने अमृत-कुम्भ कहा है, साक्षात् रसकूप कहा है । यही है परमार्थ साधनाका अन्तिम लक्ष्य और यही है बन्धन-मुक्ति ।

तत्त्वालोकके इस जगत्में जहाँ तत्त्व ही तत्त्वमें वर्तन करते प्रतीत होते हैं, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, जहाँ परमाणुओं तथा चेतनाओंके संयोग वियोग के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई नहीं देता, वहाँ क्या इष्ट और क्या अनिष्ट ? जहाँ क्रिया तथा प्रतिक्रियाके अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई नहीं देता वहाँ क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य । ये सब द्वन्द्व वहाँ उदित होते हैं जहाँ समग्र दिखाई न देकर क्षण-क्षणमें बदलने वाले नामोंकी अथवा रूपोंकी सत्ता प्रतीत होती है । ऐसी प्रतीति मोह है । इस मोहका लोप हो जानेपर सब समान हैं । न कुछ छोटा है न बड़ा, न इष्ट न अनिष्ट, न कर्त्तव्य न अकर्त्तव्य । इसलिये यह भाव समता कहलाता है । वैकल्पिक क्षोभ या भाग-दौड़ शान्त हो जानेके कारण यही शमता है । शमता ही शान्ति है, विश्रान्ति है, प्रशान्त रस है, अमृतरस है, निराकुल सुख है, आनन्दानुभूति है ।

३. समन्वय

भले ही व्यवहार भूमिपर विधि-निषेधमें, ग्राह्य-त्याज्य में, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यमें, तथा पुण्य-पापमें अन्तर रहा आवे परन्तु विकल्प-मुक्तिका अधिकार प्रस्तुत होनेपर उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है । दोनों ही विकल्प हैं—विधि भी और निषेध भी । दोनों ही के द्वारा चित्त विकल्प-जालमें उल्लूझता है । अन्तर केवल अहंकारके रूपमें है । विधि ग्रहणके पक्षमें 'मैंने यह काम किया', 'मैं अमुक पदार्थकः प्रयोग करता हूँ' ऐसा अहंकार रहता है । निषेध तथा त्यागके पक्षमें 'मैं ऐसा काम नहीं करता', 'मैंने इस वस्तुका त्याग

कर दिया है' ऐसा अहंकार होता है। दोनों ही अहंकार हैं। जिस प्रकार वस्तुके ग्रहणसे उसके विकल्पका निषेध नहीं होता उसी प्रकार वस्तुके त्यागसे भी उसके विकल्पका निषेध नहीं होता।

इस रहस्यको समझानेके लिये गुरुने अपने शिष्योंको एक दिन ऐसा आदेश दिया कि आज भोजन करते समय तुम हाथीका ध्यान न करना। शिष्यने समझा कि यह तो बहुत सरल बात है। भोजनके समय तो क्या अन्य समयोंमें भी मैं हाथीका ध्यान करता ही कब हूँ? परन्तु भोजन करने बैठा तो उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि आज न जाने क्यों मेरे चित्तके आगे हाथी खड़ा झूल रहा है। "अरे हाथी! तू हट यहाँसे, गुरुकी आज्ञा थी कि हाथीका ध्यान न करना। तू बिना बुलाये क्यों आया? रोज तो नहीं आता था आज कहाँसे चला आया? हट यहाँसे हट अरे! मैं कह रहा हूँ सुनता नहीं?" आप बताइये कि हाथी कैसे हटे? 'अरे हाथी हट' यही तो हाथी है, इसके अतिरिक्त और क्या। निषेधका निषेध हो जानेपर हाथी स्वयं दूर हो जायेगा। ध्यान कीजिये कि मैंने निषेधका निषेध करनेकी बात नहीं की है, निषेधका निषेध होनेकी बात कही है। निषेध करनेका पक्ष स्वयं कर्तृत्व है, इसलिये इससे विकल्प शान्त नहीं होगा। विकल्पसे विकल्पका त्याग नहीं होता, उसकी उपेक्षासे होता है। हाथी रहे या जाये मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं, मुझे प्रयोजन केवल खानेसे है। बस हाथी पलायन कर गया। शिष्यने शान्तिसे भोजन किया, परन्तु गुरुके रहस्यात्मक उपदेशको वह समझ गया।

इसीको शास्त्रोंमें उपेक्षा-चारित्र्यके नामसे कहा गया है। 'रहे या जाये मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं है' इत्याकारक उपेक्षा ही विकल्प-मुक्तिका एक मात्र साधन है। विकल्प-मुक्ति ही वह निराकुल सुख है, जिसे कि आत्माका हित बताकर ग्रन्थ प्रारम्भ

किया गया था। आत्माका हित अथवा कल्याण होनेके कारण यह शिव है, और बन्धन-मुक्ति होनेसे मोक्ष।

४. जीवन्मुक्ति

सकल विकल्प अस्ताचलको चले गये इसलिये यह निर्विकल्पता है, न तो यहाँ कुछ वैकल्पिक दिखाई देता है और न काषायिक, इसलिये यह शून्य है, महाशून्य। खरविषाणकी भाँति सर्वथा शून्य हो ऐसा नहीं है, समस्त विश्वको युगपत् आत्मसात् किये बैठा है, इसलिये विश्वरूप है, समग्र है, पूर्ण है। शून्य ही पूर्ण है और पूर्ण ही शून्य है। अनेकानेक वृक्ष वल्ली पत्र पुष्पादिसे समवेत वनराजकी भाँति अनेकताको अपने गर्भमें लिये यह एक है, अखण्ड है। तरंगित महासागरकी भाँति सकल अनित्यताओंको धारण किये यह नित्य है। इस प्रकार एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, अन्यत्व-अनन्यत्व, तत्त्व-अतत्त्व, द्वैत-अद्वैत, आदि विविध द्वन्द्वोंका एक अखण्ड पिण्ड होनेके कारण यह एकरस है। यह समग्र है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यही 'अह' है और यही 'इदं' है, इसलिये यह केवल है। ज्ञानका पूर्ण वैभव होनेसे यह ज्ञान है, सर्व-ग्राहक होनेसे यह सर्वज्ञता है, सर्वगतता है। सर्वगत होनेसे यह विभु है और समस्त ऐश्वर्यको प्राप्त होनेसे यह प्रभु है।

समग्रको प्राप्त होनेसे यह सिद्धि है, संसिद्धि है, प्रसन्नता है, प्रसाद है अथवा कृपा होनेसे यह राध है, आराधना है। करणोंका आश्रय छूट जानेसे अहंकारकी संकीर्णता नष्ट हुई। अहंकार पूर्णाहंतामें रूपान्तरित होकर सन्तुष्ट हो गया, तृप्त हो गया। समस्त कृत्रिमतासे अतीत मेरा त्रिकाली स्वभाव होनेसे यह धर्म है। मेरा निज स्वरूप होनेके कारण यह आत्मा है, Self है। निरन्तर अपने रसपानमें मग्न होनेके कारण यह रसानुभूति है, आत्मानुभूति है, निजानुभूति है, स्वरूपानुभूति है, स्वभावानुभूति है।

है। मोह-विहीन समता और क्षोभ-विहीन शमतामें नित्य विचरण करते रहनेसे यह स्वरूपाचरण है, स्वभावाचरण है। किसी प्रकारका भी प्रयत्न न होनेसे यह सहजाचरण है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-नहाते, खाते-पीते किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, यह सहजरूपसे अवस्थित है। प्रयत्न-शून्य सहजावस्था होनेसे यहाँ व्यक्ति चलते हुए भी स्थिर है, बोलते हुए भी मौन है, कुछ करते हुए भी अकर्ता है, विषय सेवते हुए भी असेवक है।

समग्रमेंसे किसी एक विषयके प्रति अपनेको फोकस नहीं करता इसलिये निज उपयोगमें अवस्थित है, ज्ञानमें अवस्थित है। उपयोग या ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बातका मिश्रण न होनेसे यह शुद्धोपयोग है। न किसी विषयके प्रति आकर्षण है न विकर्षण, न राग है न द्वेष इसलिये यह वीतरागता है। चित्तका पलड़ा न इस पक्षकी ओर झुकता है न उस पक्षकी ओर, द्रष्टा अथवा साक्षी भावसे दोनोंके मध्यमें अवस्थित रहता है, इसलिये माध्यस्थता है। पूर्णताकी प्राप्ति होनेसे यही वास्तवमें विकल्प-मुक्ति है, संसरण-मुक्ति है, बन्धन-मुक्ति है, जीवन्मुक्ति है। ●

२८. संस्कार

१. द्रव्यकर्म तथा भावकर्मका समन्वय

कर्म-खण्डमें प्रवेश पानेके पश्चात् हमने अबतक कर्मकी तथा इसकी सकल विशेषताओंकी विस्तीर्ण विवेचना की, जिसके अन्तर्गत कर्मका सामान्य-स्वरूप तथा विशेष-स्वरूप दर्शनके साथ-साथ उसके तीन करणोंका, कर्मण-शरीरका, कर्म-विधानका, द्रव्य-कर्म, नो-कर्म तथा भावकर्मका तात्त्विक अवलोकन किया। साथ ही यह भी बताया कि फलभोगकी कामनाके कारण इष्टानिष्ट आदि द्वन्द्वोंके रूपमें अहंकारकी काल्पनिक सृष्टि ही वास्तवमें बन्धन है, और इन द्वन्द्वोंसे ऊपर उठकर समता तथा शमतामें स्थित होना ही जीवन्मुक्ति है। इतनी कुछ विवेचना हो जानेपर यद्यपि कर्म-रहस्य नामक इस प्रबन्धका प्रतिपाद्य पूरा हो जाता है, तदपि यह सर्व कथन क्योंकि अध्यात्मकी दृष्टिसे किया गया है, इसलिये कर्म-सिद्धान्तके साथ समन्वय स्थापित करनेके लिये इसे कुछ सैद्धान्तिक रूप देना आवश्यक है।

इससे पहले 'कर्म-सिद्धान्त' नामकी पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है जिसमें इस विषयकी सैद्धान्तिक विवेचना की गयी है। वहाँ यह

बात जोर देकर कही गयी है कि अध्यात्मकी दिशासे इस विषयकी विवेचना यदि असम्भव नहीं है तो जटिल अवश्य है। यही कारण है कि करणानुयोग उपादानकी भाषामें न बोलकर निमित्तकी भाषामें बोलता है। मुमुक्षुकी प्रतिभाका सार्थक्य इस बातमें है कि जिस प्रकार थर्मामीटरमें १०४ डिग्री तक चढ़े हुए पारेको देखकर हम रोगीकी ज्वर-वेदनाको जान जाते हैं, उसी प्रकार निमित्तकी भाषापर से वह उपादानको समझ जाये।

कर्म-विधान नामक अधिकारमें द्रव्य-कर्म तथा भाव-कर्मका स्वरूप दर्शा दिया गया है। कार्मण-शरीरमें निबद्ध कार्मण-वर्गणायें परमाणुओंके द्वारा निर्मित होनेके कारण द्रव्य-कर्म कहलाती हैं और जीवात्माका राग-द्वेषात्मक भाव अथवा फलभोगकी आकांक्षा भाव-कर्म है। इन दोनों कर्मोंकी परस्परमें इतनी घनिष्ठ व्याप्ति है कि जिस प्रकार धूमको देखकर अग्निका ज्ञान हो जाता है, अथवा जिस प्रकार थर्मामीटरमें १०४ डिग्री दर्शानेवाले पारेको देखकर रोगीकी अवस्थाका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य-कर्मकी अवस्थाओंको देखकर भाव-कर्मोंका अर्थात् जीवके भावोंका ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार भाव-कर्मकी अवस्थाओंपरसे द्रव्य-कर्मकी अवस्थाओंको भी जाना जा सकता है।

द्रव्य-कर्म सर्वथा जड़ है और भाव-कर्म कथंचित् चेतन। यद्यपि तत्त्व दृष्टिसे इन दोनोंके मध्य किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है, तदपि इन दोनोंके मध्य एक ऐसा तत्त्व स्थित है जो कि व्यवहार-भूमिपर जड़को चिदाभासी और चेतनको जड़ाभासी बना देता है। उस तत्त्वको मैं संस्कार कहता हूं। कार्मण-वर्गणाका स्वरूप दर्शिते समय इसका नामोल्लेख किया गया है। करणानुयोग और अध्यात्मानुयोगमें, निमित्त और उपादानमें अथवा द्रव्यकर्म और भाव-कर्ममें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये इस तत्त्वका कुछ

विशद परिचय होना आवश्यक है। आइये इस तत्त्वका कुछ अध्ययन करें।

यद्यपि जैन-शास्त्रमें संस्कार नामके किसी तत्त्वका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, तदपि अनुभव-सिद्ध होनेसे यह विरोधको प्राप्त नहीं होता। जैसा कि आगे बताया जानेवाला है हम अपनी ओरसे इसका आस्रव-तत्त्वमें अन्तर्भाव कर सकते हैं। 'कायवाङ्मनः-कम योगः। स आस्रवः' यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है।

२. संस्कार-परिचय

बाह्य-जगत्में अथवा आभ्यन्तर-जगत्में हम जो कुछ भी काम या कर्म करते हैं, वह काम या कर्म यद्यपि उसी क्षण समाप्त हो जाता है, तदपि जाते-जाते हमारी चित्त-भूमिपर वह उसी प्रकार अपना पद-चिह्न अंकित कर जाता है, जिस प्रकार कि मातायें घरके द्वारोंपर हाथके थापे। यह अंकन उसके समाप्त होनेके पश्चात् भी वहाँ स्थित रहता है। यद्यपि आपको यह बात कुछ अपरिचित सी प्रतीत होती है, परन्तु तनिक अपने भीतर देखनेसे आपको इसकी सत्यताका भान हो जायेगा। जिस प्रकार कच्ची भूमिपर चलते हुए हमारे पग उसपर अपने चिह्न अंकित कर जाते हैं, उसी प्रकार हमारा हर कार्य या कर्म समाप्त होनेसे पहले हमारी चित्त-भूमिपर अपना चिह्न अंकित कर जाता है। यद्यपि अत्यन्त धुँधला अथवा अस्पष्ट होनेके कारण पहले-पहल यह चिह्न हमारे दृष्टिपथमें नहीं आता, तदपि अवान्तर कालमें कुछ गहरा हो जानेपर वह प्रत्यक्ष रूपसे सामने आकर खड़ा हो जाता है। यद्यपि अपनी पूर्वावस्थामें यह अत्यन्त ज्ञाना होता है, और इसलिये कच्ची मिट्टी-पर पड़े पद-चिह्नकी भाँति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तदपि अवान्तर कालमें परिपक्व हो जानेपर यह पाषाणपर उत्कीरित-रेखाकी भाँति मिटानेसे भी नहीं मिटता।

कार्य या कर्मके पद-चिह्नका अर्थ यहाँ मिट्टीपर पड़े पदचिह्न जैसा कुछ नहीं है। कार्य या कर्मके कोई हाथ-पाँव नहीं होते जिससे कि उसकी पदाकृति जैसा कुछ चिह्न बन सके, न ही 'चित्त' मिट्टीकी भूमि जैसा कुछ है जिसपर कि वह चिह्न अंकित हो सके। यह केवल उसे समझने या समझानेके लिए उदाहरण मात्र हैं। क्योंकि चित्त तथा कर्म ये दोनों ही ज्ञानात्मक हैं, इसलिये उसका चिह्न भी ज्ञानात्मक ही कुछ है। साधारण भाषामें उसे हम आदत या टेव कह सकते हैं और शास्त्रीय भाषामें उसे धारणा अथवा संस्कार कहा गया है। जिस प्रकार टाइपकी मशीनपर कुछ काल पर्यन्त टिप-टिप करनेसे टाइप करनेकी आदत पड़ जाती है, जिस प्रकार कुछ काल पर्यन्त माताका सहारा लेकर चलनेसे बच्चेको चलनेकी आदत पड़ जाती है, जिस प्रकार कुछ काल पर्यन्त कोई एक भाषा बोलते-रहनेसे वह भाषा बोलनेकी आदत पड़ जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना।

कार्य या कर्म कोई भी क्यों न हो, जाननेका हो, बोलनेका हो, कुछ करने-धरनेका हो अथवा किसी विषयको भोगनेका हो, निरन्तर होते रहने पर उसकी आदत पड़ जाती है। वह आदत ही 'संस्कार' शब्दका वाच्य है। जाननेके क्षेत्रमें इसे धारणा अथवा स्मृति कहते हैं और बोलने, करने अथवा भोगनेके क्षेत्रमें इसे संस्कार कहते हैं। भक्तामर आदि किसी पाठको पुनः-पुनः दोहराते रहनेसे अथवा किसी व्यक्तिको या घटनाको दो चार बार देखनेसे वे स्मृतिके विषय बन जाते हैं। यह ज्ञानगत धारणा कहलाती है। इसी प्रकार गर्दन लटकाकर चलनेसे उसी प्रकार चलनेकी आदत पड़ जाती है, पुनः-पुनः भैया बेटा आदि शब्द बोलते रहनेसे सबका भैया बेटा कहनेकी आदत पड़ जाती है, शराब सिगरेट पीते रहनेसे उसकी कुटेव पड़ जाती है। ये सब कर्मगत संस्कार कहलाते हैं। खोटे व्यक्तियोंकी संगति करनेसे खोटे संस्कार पड़ते हैं और साधु तथा

सज्जन जनोंकी संगतिसे अच्छे संस्कार पड़ते हैं, यह बात जग-प्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें भी व्यक्तिके गर्भावतरणसे लेकर उसके मरण पर्यन्त ५६ संस्कारोंका उल्लेख प्राप्त होता है।

३. संस्कार-निर्माण क्रम

इस परसे संस्कार निर्माणका सिद्धान्त निर्धारित कर लेना चाहिए। अच्छा या बुरा कोई भी कार्य करनेपर उसका प्रभाव चित्तपर अवश्य पड़ता है। कार्य समाप्त हो जाता है परन्तु चित्तपर पड़ा उसका यह प्रभाव समाप्त नहीं होता। भले ही अपनी पूर्वावस्थामें वह प्रतीतिका विषय बन न पाये परन्तु वह होता अवश्य है, जिसे हम तर्कके द्वारा सिद्ध कर सकते हैं। देगचीमें चावल डालकर पकनेके लिये अग्निपर रख दिये। अब बताइये कि प्रथम क्षणमें वे कुछ न कुछ पके या नहीं? यदि सर्वथा नहीं पके तो द्वितीय क्षणमें भी इसी प्रकार सर्वथा नहीं पके, तृतीय क्षणमें भी इसी प्रकार सर्वथा नहीं पके। इस प्रकार किसी भी क्षणमें वे यदि सर्वथा पके नहीं तो आध घंटेके पश्चात्वाले क्षणमें क्या सहसा पक गये? इसी प्रकार यहाँ भी समझना। प्रथम बार किसी कार्यके करनेपर यदि उसकी आदत सर्वथा नहीं पड़ी तो द्वितीय बार करनेपर भी उसी प्रकार सर्वथा नहीं पड़ी, तृतीय बार करनेपर भी नहीं पड़ी। इस प्रकार किसी भी बार उसे करनेपर यदि आदत सर्वथा नहीं पड़ी तो पचासवीं बार करनेपर क्या उसकी आदत सहसा पड़ गई?

इसपर से यह सिद्धान्त निर्धारित हो जाता है कि चित्तपर पड़ा कार्यका आद्य प्रभाव कितना भी धीमा क्यों न हो, होता अवश्य है। हम छद्मस्थोंकी प्रतीतियाँ अत्यन्त स्थूल होती हैं, अर्थात् स्थूल वस्तुका ही ग्रहण करती हैं, सूक्ष्मका नहीं। जिसप्रकार हमारा ज्ञान परमाणुका ग्रहण करनेके लिये समर्थ नहीं है, उसीप्रकार इस अत्यन्त क्षीण आद्यप्रभावका भी ग्रहण करने के लिये

वह समर्थ नहीं है। जिस प्रकार अनेक क्षणिक पाकों के संघात से उत्पन्न आधा घण्टेवाला भात का स्थूल पाक हमारी प्रतीति का विषय बन जाता है, जिसप्रकार अनेक सूक्ष्म परमाणुओंके संघातसे उत्पन्न स्थूल स्कन्ध हमारी प्रतीतिका विषय बन जाता है, उसी प्रकार एक ही कार्यको पुनः पुनः करनेके कारण उत्पन्न जो अनेकों क्षणिक प्रभाव, उन सबके पारस्परिक संयोगसे उत्पन्न स्थूल प्रभाव हमारी प्रतीतिका विषय बन जाता है। कार्य या कर्मका यह स्थूल प्रभाव ही आदत या संस्कार शब्द का वाच्य है।

जिसप्रकार प्रतीतिमें आनेवाला स्थूल-स्कन्ध, पृथक्-पृथक् अनेक परमाणुओंके समूहके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, अथवा जिस प्रकार आध घण्टेके पश्चात् प्रतीतिमें आनेवाला भातका पूर्ण पाक पृथक्-पृथक् अनेक पाकोंके समूहके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार एक लम्बे कालके पश्चात् प्रतीतिमें आनेवाला संस्कार भी विभिन्न कालोंमें कृत कर्मोंके, पृथक्-पृथक् अनेक प्रभावोंके समूहके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। तहाँ प्रत्येक समयमें प्राप्त कर्मके सूक्ष्म प्रभावको हम आस्रव कह सकते हैं और संस्कार या आदतके रूपमें अनेक प्रभावोंका घनीभूत हो जाना बन्ध-तत्त्व है।

किसी एक ही कार्यको निरन्तर अथवा कुछ-कुछ अन्तरालसे पुनः-पुनः दोहराते रहना उसका 'अभ्यास' कहलाता है। संस्कार-निर्माणमें अथवा कर्म-बन्धमें इसका प्रधान स्थान है। इसीके कारण कर्मगत अत्यन्त क्षीण आद्य प्रभाव प्रत्येक बारमें उत्तरोत्तर गहरा होता हुआ ऐसे दृढ़ संस्कारके रूपमें रूपान्तरित हो जाता है कि पुनः-पुनः घड़ा टिकानेसे कुयेंकी मेड़पर पड़े खड्डेकी भांति, मिटानेपर भी उसका मिटना कठिन हो जाता है।

४. संस्कार विच्छेद-क्रम

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सर्वथा मिट न सके। यद्यपि उसका मिटना कठिन पड़ता है, परन्तु असम्भव नहीं है।

जिस प्रकार कि टांकी छेनी आदिकी सहायतासे कुयेंकी मेड़नर पड़ा खड्डा अथवा पाषाणकी शिलापर पड़ा रस्सीका निशान मिटाया जा सकता है उसी प्रकार किसी अनुकूल चेतन अथवा अचेतन सामग्रीकी सहायतासे चित्तगत संस्कार भी मिटाया अथवा बदला अवश्य जा सकता है। शान्तिपथ-प्रदर्शन में इसकी वैज्ञानिक विधिका निर्देश किया गया है—

किसी एक व्यक्तिको प्रत्येक बातमें गाली देकर बोलनेकी आदत है, परन्तु उसे स्वयं यह पता नहीं चलता कि कब उसके मुखसे वह शब्द निकल गया। उसके एक मित्रने उसका लक्ष्य इस ओर दिलाया जिससे उसे कुछ लज्जा आई और अपने मित्रसे प्रार्थना की कि इसी प्रकार मुझे याद दिलाया करो, अन्यथा मैं इसे छोड़ नहीं सकूंगा। उसके पश्चात् जब कभी भी उसके मुखसे वह शब्द निकलता तभी मित्र उसका लक्ष्य उधर ले जाता। मित्रके द्वारा लक्षित करानेपर प्रत्येक बार अपनी गलतीको स्वीकार करता और साथ-साथ कुछ पश्चात्ताप भी करता। धीरे-धीरे मित्रके याद दिलाये बिना ही उसका लक्ष्य उधर जाने लगा। बाहरवाला मित्र तो कभी उसके साथ होता था और कभी नहीं भी होता था, परन्तु भीतर वाला यह मित्र तो हर समय उसके साथ है। फलस्वरूप उसका जो लक्ष्य अबतक मुखसे शब्द निकलनेके पश्चात् उस ओर जाता था, अब शब्द निकलनेके समय ही जाने लगा। आधा शब्द निकल गया और आधा मुखमें ही रहा तभी रोक लिया जाने लगा। धीरे-धीरे मुखसे निकलनेके पहले मनमें ही वह रुकने लगा, और कुछ कालके पश्चात् उसका मनमें आना भी बन्द हो गया।

संस्कारको तोड़नेके पथपर यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत पांच सोपान ध्यान देने योग्य हैं—१. कर्मकी स्त्रीकृति-पूर्वक उसे छोड़नेका संकल्प, २. गुरुके द्वारा लक्ष्य

दिलाया जानेपर उसके प्रति आत्म-निन्दन, ३. बिना गुरुकी सहायताके स्वयं ही उस ओर लक्ष्यका जाना, ४. भीतर उदित हो जानेपर भी बाहर प्रकट न हो पाना, ५. भीतर उदित हो जाना भी बन्द हो जाना ।

इसी प्रकार संस्कार बदला भी जा सकता है, शुभसे अशुभ और अशुभसे शुभ किया जा सकता है । भोगासक्तिका संस्कार आत्मासक्तिके रूपमें रूपान्तरित किया जा सकता है, मद्यपानका संस्कार समरस-पानकी ओर उन्मुख हो सकता है ।

५. संस्कार बन्धन

इसका विशेष उल्लेख आगे यथास्थान किया जायेगा । यहां केवल इतना समझिये कि निरन्तर नये-नये संस्कारोंकी अभिवृद्धि होते रहनेसे तथा पुराने संस्कारोंका परिपोषण होते रहनेसे इनका कोश बराबर बढ़ता रहता है और कभी समाप्त नहीं होता । भौतिक कोश तो उसमें से कुछ निकालनेपर घटता है, परन्तु यह कांश इसमें से कुछ निकालनेपर बढ़ता है, क्योंकि किसी भी संस्कारके अनुसार काम करने पर वह क्षीण होनेकी वजाय पुष्ट हो जाता है । दर्शन-खण्डमें चित्तगत विकल्पोंके जिस अक्षय कोशकी स्थापना की गई है और जिसे वहां Subconscience या उपचेतना कहा गया है उसीमें संस्कारों के इस कोशका भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

दर्शन-खण्डके प्रथम अधिकारमें जो व्यक्तिको परिस्थितियोंके अधीन बताया गया था, वह भी वास्तवमें इन संस्कारोंके कारण से ही है । तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर बाह्य-जगत्की परिस्थितियां कोई वस्तु नहीं है । हमारे भीतर Subconscience या उपचेतनामें बैठे हुए जन्मजन्मान्तरके ये संस्कार ही वस्तु हैं । बाह्य-परिस्थितियां केवल

उनकी जागृतिमें निमित्त होती हैं। परिस्थितियां सीधे रूपसे हमें कुछ करनेके लिये बाध्य नहीं करतीं। यद्यपि लगता ऐसा ही है कि हम परिस्थितियों में बँधे हुए हैं, परन्तु यह बाह्य दृष्टि है जो संस्कारोंको न देखकर केवल परिस्थितियोंको देखती है। इसलिये यहां यह बात अवधारण कर लीजिये कि आप वास्तवमें परिस्थितियोंके नहीं संस्कारोंके दास हैं। प्रथम अधिकारमें आपने जो प्रश्न किया था कि वे परिस्थितियां कहां स्थित हैं, उसका उत्तर यहां आ गया है कि वे कहीं बाहर में नहीं हैं, संस्कारोंके रूपमें हमारे तथा आपके भीतर Subconscience या उपचेतनाके अक्षयकोशमें स्थित हैं। इसे ही शास्त्रीय भाषामें बन्ध-तत्त्व कहा गया है।

इन संस्कारोंको तोड़ना या बदलना ही पारमार्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका उपाय है। मुमुक्षु साधकोंका अथवा योगियोंका एकमात्र यही लक्ष्य है। ●

- ★ शारीरिक मल की शुद्धि मिट्टी तथा जल से होती है परन्तु मोह तथा अहंकार रूपी मल की शुद्धि ज्ञान तथा वैराग्य रूपी जल से होती है।
- ★ शास्त्रज्ञानके बिना साधना संभव नहीं है परन्तु शास्त्रज्ञान का अहंकार साधना के लिये दावाग्नि के समान है।

१. कर्म-सिद्धान्त

कर्म-सिद्धान्तके क्षेत्रमें करणानुयोग दस करणोंका अथवा दस अधिकारोंका कथन करता है। द्रव्य-कर्मकी भाषामें निबद्ध उस विवेचनाका संक्षिप्त सा चित्रण 'कर्म-सिद्धान्त' नामकी अपनी पुस्तकमें पहले ही कर चुका हूँ। भाव-कर्मकी भाषामें उसे समझनेसे पहले पाठकको चाहिये कि एक-बार उस पुस्तकमें निबद्ध विवेचनाको पुनः पढ़ ले। लीजिये आपकी सुविधाके लिये यहां भी मैं उसका संक्षिप्त सा सार प्रस्तुत करता हूँ। उन दस करणोंके नाम हैं—बन्ध, उदय, सत्त्व, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, उपशम, क्षय (क्षयोपशम), निधत्त तथा निकाचित।

बन्धके अन्तर्गत चार विकल्प हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश। विविध प्रकारकी राग-द्वेषात्मक कामनाओंके अनुसार कार्मण वर्गणाओं में उस-उस जातिकी फलदान शक्तिका उत्पन्न हो जाना प्रकृति-बन्ध है, जो ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका प्रसिद्ध है। उस फलदान शक्तिको कार्मण-वर्गणा जितने कालतक अपने भीतर समाकर रख सकती है, वह उसकी स्थिति

कहलाती है, और उसकी तीव्रता मन्दता अनुभाग कहा जाता है। प्रकृतिबन्धसे उस फल-दान शक्तिकी जातिका निर्णय होता है और अनुभागसे उसकी तीव्रता मन्दताका, यह दोनोंमें भेद है। स्थिति उसकी आयु है, जिसके बीत जानेपर कर्मण-वर्गणामें स्थित वह फलदान शक्ति क्षीण हो जाती है। कर्मण-शरीरमें उस प्रकृति या जातिवाली कितनी कर्मण वर्गणायें बन्धको प्राप्त हुई हैं और प्रत्येक कर्मण-वर्गणा कितने परमाणुओंके संघातसे निर्मित हुई है, इस बातका निर्णय प्रदेश-बन्ध करता है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश इन चारों विकल्पोंको लेकर नई-नई कर्मण वर्गणायें प्रति समय कर्मण-शरीरके साथ संश्लेष-सम्बन्धको प्राप्त होती रहती हैं, यही द्रव्य-कर्मका बन्ध कहलाता है।

बन्धको प्राप्त हुन वर्गणाओंका फलोन्मुख हो जाना उनका उदय कहलाता है। अपनी अपनी प्रकृति तथा अनुभागके अनुसार वे उदय में आकर जीवको फल देती हैं, अर्थात् ज्ञान दर्शन आदिक उसकी स्वाभाविक शक्तियोंको बाधित अथवा विकृत करती हैं, और उसके लिये शरीर, आयु तथा भोग-सामग्री की व्यवस्था करती है। यहां कर्तृत्वका अर्थ निमित्तकी अपेक्षा समझना उपादानकी अपेक्षा नहीं। अपना-अपना तीव्र या मन्द फल प्रदान कर देनेके पश्चात् वे कर्मण-शरीरसे झड़ जाती हैं। यह सब उस-उस कर्मका उदय कहलाता है।

एक समयमें राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तिके कारण जितनी कर्मण-वर्गणायें कर्मण-शरीरके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं वे सबकी सब एक समयमें फल नहीं देतीं। उन सारी वर्गणाओंका कुछ मात्र भाग ही उदयको प्राप्त होकर झड़ता है, शेष सारी वर्गणायें कर्मण-

शरीरमें स्थित रहती हैं। उदय होकर अथवा फल देकर झड़ जानेके पश्चात् जितनी कुछ वर्गणायें कार्मण-शरीरमें शेष रहती हैं, वे सब मिलकर उस प्रकृति या कर्मकी 'सत्ता' कहलाती हैं। जिस प्रकार तिजोरीमें प्रतिदिन कुछ धन आता रहता है, प्रतिदिन उसमेंसे कुछ निकलता रहता है और शेष बहुत सा धन उसमें स्थित रहता है, उसी प्रकार यहां भी समझना। प्रतिसमय उस-उस प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग वाले अनेकों प्रदेश कार्मण-शरीरके साथ बँधते रहते हैं, प्रतिसमय अनेकों प्रदेश उदय होकर उसमेंसे झड़ते रहते हैं, और शेष बहुतसे प्रदेश उसमें स्थित रहते हैं। उसमें स्थित रहनेवाले ये शेष प्रदेश 'सत्ता' शब्दके वाच्य हैं।

शुभ या अशुभ किसी परिणाम-विशेषके कारण, कार्मण-वर्गणाओंमें स्थित उस-उस प्रकृतिवाली स्थितिका तथा अनुभागका घट जाना अपकर्षण कहलाता है। इसी प्रकार शुभ या अशुभ किसी परिणाम विशेषके कारण, उसकी स्थितिका तथा अनुभागका बढ़ जाना उत्कर्षण कहलाता है। फलदान शक्ति की जाति अथवा प्रकृतिका बदलकर अन्यरूप हो जाना संक्रमणका लक्षण है। पुण्यवाली प्रकृतियोंके अनुभागका उत्कर्षण, पापवाली प्रकृतियोंके अनुभागका अपकर्षण तथा पुण्य-प्रकृतियोंके रूपमें उनका संक्रमण हो जाना ही परम्परा रूपसे उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमका लक्षण है, जिनके कारण जीवकी स्वाभाविक शक्तियोंका विकास होता है। जिन कार्मण-वर्गणाओं अथवा कर्मोंमें अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, उपशम, क्षय-क्षयोपशम कुछ भी सम्भव नहीं, ऐसे कठोर कर्म निधत्त तथा निकाचित कहलाते हैं। तहां निधत्तमें कदाचित् उत्कर्षण हो सकता है, परन्तु निकाचितमें यह भी सम्भव नहीं।

२. बन्ध, उदय, सत्त्व

प्रसंगवशात् करणानुयोगकी भाषामें कर्म-सिद्धान्तके दस करणों-का परिचय देनेके पश्चात् मैं पुनः अध्यात्म-भाषाकी ओर धाता

हूँ । करणानुयोग जहाँ द्रव्य-कर्मको प्रधान मानकर विवेचन करता, है, वहाँ ही अध्यात्म चित्तगत संस्कारोंको प्रधान मानकर कथन करता है । इन दोनोंका समन्वय करनेके लिये संस्कारोंका यह अंकन हम अब चित्त-भूमिपर न करके द्रव्य-कर्मोंपर अथवा कार्मण-शरीरपर करेंगे । जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'चित्त' वास्तवमें कोई स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थ नहीं है, द्विधा विभक्त ज्ञान का 'अहं' वाला भाग ही इस शब्दका वाच्य है । ज्ञानका यह विभक्तीकरण क्योंकि संस्कारोंके कारण होता है इसलिए समन्वय-की दृष्टिसे देखनेपर उक्त कथन विरोधको प्राप्त नहीं होता । कार्यमें कारणका उपचार करके भले ही अध्यात्म भाषामें हम चित्तको संस्कारोंका अधिकरण कहें, परन्तु सिद्धान्ततः इनका अंकन कार्मण-शरीरपर होता है, चित्तपर नहीं । चित्त तो उसके फल-स्वरूप ज्ञानके विश्वव्यापी स्वरूपमें उदित हो जाता है ।

संस्कारोंमें तथा उससे अंकित द्रव्य-कर्ममें यद्यपि स्वरूपतः कोई भेद नहीं है तदपि सैद्धान्तिक दृष्टिसे उनका भेद प्रत्यक्ष है । आगमगम्य होनेके कारण यद्यपि द्रव्यकर्म अथवा कार्मण-शरीर सत्य है तदपि अनुभव-गम्य न होनेके कारण वह हमसे बहुत दूर है, जबकि अनुभवगम्य होनेके कारण संस्कार हमारे अधिक निकट है । इसलिये अध्यात्मके क्षेत्रमें संस्कारकी ओरसे बात करना अन्याय नहीं है ।

यह बात पहले बताई जा चुकी है कि मनसे, वचनसे अथवा कायसे ज्ञातृत्व, कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व रूपमें जो कुछ भी कार्य हम करते हैं, वह हमारा कर्म होता है । प्रतिसमय इस कर्मका संस्कार द्रव्य-कर्मोंपर अथवा उनसे निर्मित कार्मण-शरीरपर अंकित होता रहता है । समय-समयवर्ती होनेवाला यह संस्कारांकण ही आत्मव शब्दका वाच्य है । अभ्यासवश धीरे-धीरे इनका घनीभूत

होकर आदत या टेवका रूप धारण कर लेना ही सैद्धान्तिक-भाषामें 'बन्ध' कहलाता है। इसमें चार विकल्प उत्पन्न किये जा सकते हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश। जिस जातिका संस्कार पड़ा है वह उसकी प्रकृति है और जितने कालके लिये पड़ा है वह उसकी स्थिति है। वह तीव्र है या मन्द है, तीव्रतर है या मन्दतर है यह उसका अनुभाग है और जितनी कार्मण वर्गणाओं पर उसका अंकन हुआ है, वे उसके प्रदेश हैं।

क्योंकि सकल कार्य हम प्रतिक्षण पुनः पुनः दोहराये जा रहे हैं, इसलिये बिना बताये नए-नए संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं और पुराने संस्कार दृढ़ होते रहते हैं। ये सकल संस्कार उपचेतना-स्वभावी कार्मण शरीरके महाकोशमें उस समय तक प्रसुप्त पड़े रहते हैं जबतक कि बाहरके किसी निमित्तको पाकर वे जागृत नहीं हो जाते। कार्मण शरीरमें अथवा उपचेतनामें कितनी जातिके संस्कार अंकित पड़े हैं यह कोई नहीं कह सकता। समाप्त होनेके कुछ ही देर पश्चात् कार्य क्योंकि विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है, इसलिए कुछ एक अत्यन्त प्रधान कार्योंको छोड़कर हम यह भी नहीं जानते कि कल हमने क्या-क्या काम किए थे, किससे क्या कहा था, कहां गये थे, क्या विचारा था इत्यादि। जब कलके ही काम हमें याद नहीं तो सारे जीवनमें हमने कब क्या किया यह कैसे जान सकते हैं। फिर वे संस्कार तो केवल इस जन्म सम्बन्धी ही नहीं हैं, जन्म-जन्मान्तरोंसे जो कुछ भी हम करते आ रहे हैं उन सबके संस्कार इस अक्षय-कोशमें निहित हैं। अतः ये अनन्त ही नहीं अनन्तानन्त हैं। कार्मण शरीरका उपचेतनारूप यह अक्षय कोश ही सिद्धान्तमें कर्मोंकी सत्ता' के नामसे प्रसिद्ध है, जिसमें पूर्वसंचित सकल संस्कार फलोन्मुख होनेकी प्रतीक्षामें प्रसुप्त पड़े रहते हैं।

सत्तामें स्थित इन प्रसुप्त संस्कारोंका जागृत अथवा फलोन्मुख हो जाना सिद्धान्तमें उनका उदय होना कहा जाता है। इस

अवस्थामें ये जीवको नवीन-नवीन कार्य करनेके लिये उकसाते रहते हैं, और जीवको इनका अनुसरण करना पड़ता है। हमारे प्रत्येक कार्यसे नये-नये संस्कार बननेका तथा पुराने संस्कार दृढ़ होनेका तो कार्य निरन्तर हो ही रहा है, जो काम हम वर्तमानमें कर रहे हैं वह भी संस्कारसे अछूता नहीं है। वास्तवमें जो कुछ भी हम करते हैं, उसकी पृष्ठ-भूमिमें संस्कार बैठा हुआ है। हमारा कोई भी कार्य, वह बाह्य-जगत् में किया जा रहा हो या आभ्यन्तर जगत्में, स्थूल हो या सूक्ष्म, नया हो या पुराना, जानने तथा भोगने विषयक हो या कुछ करने-धरने विषयक, शुभ हो या अशुभ, सब पूर्वसंचित संस्कारोंकी प्रेरणासे हो रहे हैं। बहिर्करणको अथवा अन्तर्करणको जब जैसा कुछ भी निमित्त प्राप्त होता है तब वैसा ही संस्कार जागृत हो जाता है, और हमको उसी जातिका काम करनेके लिये प्रेरणा करने लगता है। बड़े-बड़े योगी भी सहसा इसके वेगको सहन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं, तब साधारण व्यक्तिकी तो बात ही क्या ? कदाचित् वह काम न भी करना चाहें तो भी उसकी प्रेरणासे प्रायः करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। संस्कारकी यह जागृति उसका उदय होना कहलाता है। कार्यके प्रति प्रेरित करना उसकी फलाभिमुखता है और उसकी प्रेरणासे जो कार्य हम करते हैं वह उसका फल है।

किसी एक कार्यके द्वारा किसी एक समयमें बंधको प्राप्त संस्कार उत्तर क्षणमें उदित होकर अथवा अपना फल देकर समाप्त हो जावे, ऐसा नहीं होता। जितनी स्थिति लेकर वह बंधा है अर्थात् जितने कालतक स्थित रहनेकी शक्तिको लेकर वह उत्पन्न हुआ है, उतने कालतक व्यक्तिको बराबर उसका फल प्राप्त होता रहता है, उतने कालतक बराबर उसे उसकी प्रेरणायें प्राप्त होती रहती हैं। इच्छा होते हुए या न होते हुए भी उतने कालतक बराबर व्यक्तिको उसका अनुसरण करना पड़ता है।

मन, वचन, कायके द्वारा नवीन कर्म करना अथवा उस कर्मके द्वारा कर्मण शरीरपर आद्य संस्कार अंकित हो जाना आस्रव है। अभ्यासवश इस संस्कारका घनीभूत हो जाना उसका बन्ध है। जन्म-जन्मान्तरमें बंधको प्राप्त अनन्तों संस्कारोंका कर्मण शरीरके अथवा उपचेतनाके कोशमें प्रसुप्त पड़े रहना उसका सत्त्व है। सत्ता में स्थित इन प्रसुप्त संस्कारोंका यथासमय यथानिमित्त जाग्रत अथवा फलोन्मुख होकर जीवको नवीन कार्य करनेकी प्रेरणा देते रहना उनका उदय कहलाता है। बन्धको प्राप्त संस्कार ही जबतक प्रसुप्त रहते हैं, तबतक सत्तास्थित कहे जाते हैं और वे ही जब जागृत होकर प्रेरक बन जाते हैं तो उदयगत कहलाते हैं। इस प्रकार बन्ध, उदय तथा सत्त्वमें घनिष्ठ सम्बन्ध है।

३. अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण

जितने कालतक उदित रहनेकी अथवा फल देते रहनेकी शक्तिको लेकर संस्कार बन्धको प्राप्त होता है वह उसकी स्थिति कहलाती है। इसी प्रकार तीव्र या मन्द जितना कुछ भी फल प्रदान करनेकी शक्तिको लेकर वह बन्धको प्राप्त हुआ है, वह उसका अनुभाग कहलाता है। संस्कार-विच्छेदका क्रम दर्शाते हुए यह बात बताई जा चुकी है कि अपने कर्मकी स्वीकृतिसे तथा तद्विषयक आत्मनिन्दन, गर्हण, पश्चात्ताप आदिसे संस्कारोंकी शक्ति घटाई जा सकती है तथा संस्कारोंकी जाति भी बदली जा सकती है। गुरु-आज्ञागत किन्हीं परिणाम-विशेषोंके द्वारा संस्कारकी स्थितिका तथा अनुभागका घट जाना 'अपकर्षण' कहलाता है, तथा बढ़ जाना 'उत्कर्षण' कहलाता है। स्थितिका अपकर्षण हो जानेपर सत्तामें स्थिति कर्म या संस्कार अपने समयसे पहले ही उदय होकर झड़ जाते हैं और स्थितिका उत्कर्षण हो जानेपर वे अपने समयका उल्लंघन करके बहुत काल पश्चात् उदयमें आते हैं। अपकर्षण तथा उत्कर्षणके द्वारा जिन तथा जितने कर्मोंकी अथवा संस्कारोंकी

स्थितिमें अन्तर पड़ता है उन्हींके उदयकालमें अन्तर पड़ता है, उनके अतिरिक्त अन्य जो संस्कार सत्तामें पड़े हैं उनमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। यह अन्तर कोई छोटा-मोटा नहीं होता है, एक क्षणमें करोड़ों अरबों वर्षोंकी स्थिति घट-बढ़ जाती है।

जिसप्रकार स्थितिका अपकर्षण-उत्कर्षण होता है, उसी प्रकार अनुभागका भी होता है। विशेषता केवल इतनी है कि स्थितिके अपकर्षण-उत्कर्षण द्वारा कर्मों या संस्कारोंके उदयकालमें अन्तर पड़ता है, और अनुभागके अपकर्षण-उपकर्षण द्वारा उनकी फलदान शक्तिमें अन्तर पड़ता है। अपकर्षणके द्वारा तीव्रतम शक्तिवाले संस्कार एक क्षणमें मन्दतम हो जाते हैं और उत्कर्षणके द्वारा मन्दतम शक्तिवाले संस्कार एक क्षणमें तीव्रतम हो जाते हैं।

कुसंगति अथवा सुसंगतिके कारण व्यक्तिके संस्कारोंमें परिवर्तन होता देखा जाता है। इसी प्रकार अध्ययन-अध्यापन मनन-चिन्तन आविके द्वारा भी संस्कारोंमें आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है। अभ्यासमें बड़ी शक्ति है; व्यक्ति जैसा कुछ विचारता रहता है, जैसा कुछ बोलता रहता है, और जैसा कुछ करता रहता है, वैसा ही विचारने, बोलने तथा करनेका अभ्यास उसे हो जाता है। इस अभ्यासके द्वारा जहां नये संस्कारोंका निर्माण होता है, वहां ही सत्ताके कोशमें स्थित पुराने संस्कारोंका रूप-परिवर्तन भी साथ-साथ होता रहता है। अशुभ संस्कार बदलकर शुभ हो जाते हैं और शुभ संस्कार अशुभ। पाप बदलकर पुण्य हो जाता है और पुण्य बदलकर पाप। संस्कार-परिवर्तनके इस विधानको सैद्धान्तिक भाषामें 'संक्रमण' कहा जाता है। व्यक्ति यदि चाहे तो इस विधानसे लाभ उठाकर शीघ्र ही अन्ध-लोकसे ऊपर उठ सकता है और ज्योति-लोककी ओर प्रयाण कर सकता है, अर्थात् अपने

पापात्मक-जीवनको पुण्यात्मक बनाकर धीरे-धीरे तत्त्वालोकमें प्रवेश कर सकता है ।

याद रहे कि अपकर्षण तथा उत्कर्षणके द्वारा संस्कारोंकी स्थितिमें तथा अनुभागमें अन्तर पड़ जाना और संक्रमणके द्वारा उनकी जातिका बदल जाना, ये तीनों कार्य सत्तामें स्थित उन संस्कारोंमें ही होने सम्भव हैं जो कि उदयकी प्रतीक्षामें प्रसुप्त पड़े हुए हैं । उदयकी सीमामें प्रवेश हो जानेपर उनमें किसी प्रकारका भी हेर-फेर होना सम्भव नहीं है । जैसा तथा जो कुछ भी संस्कार उदयकी सीमामें प्रवेश पा चुका है उसका फल भोगे बिना निबटारा सम्भव नहीं । अर्थात् वह अपना पूरा प्रभाव दिखाये बिना मार्गसे हट जाये, यह सम्भव नहीं ।

४. उपशम, क्षय, क्षयोपशम

जिस प्रकार कन्याके विवाह जैसे किसी बड़े कार्यके पूरा हो जाने पर चित्त कुछ देरके लिये शान्त हो जाता है, अथवा जिस प्रकार परीक्षायें पूरी हो जानेपर विद्यार्थी कुछ देर के लिये चिन्तासे मुक्त हो जाता है और उसके फलस्वरूप शान्तचित्त होकर वह कुछ देरके लिये सो जाता है, उसी प्रकार सेवा, प्रेम, भक्ति आदि किसी सात्त्विक कार्यमें उपयुक्त हो जानेपर व्यक्ति के संस्कार कुछ देरके लिये शान्त हो जाते हैं अथवा फलदानसे विरत हो जाते हैं । उस समय कुछ देरके लिये जीव उनके प्रभावसे मुक्त हो जाता है । संस्कारगत क्षोभ की यह क्षणिक विश्रान्ति ही 'उपशम' शब्दका वाच्य है । इसकी अल्पमात्र कालावधिके पूरा हो जानेपर संस्कार पुनः जाग्रत होकर पूर्ववत् अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर देते हैं । यद्यपि उपशमकी इस अल्प-कालावधिमें संस्कारोंका प्रभाव हट जानेके कारण जीव अपनेको सम तथा शम हुआ महसूस करता

है तदपि इस अवधिके पूरा हो जानेपर उसका चित्त पुनः पहलकी भांति चिन्ताग्रस्त तथा क्षुब्ध हो उठता है ।

यद्यपि संस्कार उदित होकर जीवपर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर देते हैं, तदपि उपशमके कालमें क्षणिक समताके जिस रसका पान वह कर चुका है, उसकी मधुर-स्मृति अमिट होकर रह जाती है । जिस शिशुने आजतक मलाई कभी देखी नहीं है, उसे यदि माता मलाई खिलाना चाहे तो वह बच्चा खानेकी इच्छा नहीं करता, और मलाईकी ओरसे अपना मुंह घुमा लेता है । इसी प्रकार संसारवासी सभी प्राणी जिन्होंने कि आजतक चित्त-विश्रान्तिका रस-पान कभी नहीं किया है वे विषय-भोगोंसे प्राप्त सुखसे हटकर उसकी ओर उन्मुख होनेकी इच्छा नहीं करते हैं । गुरुदेवके कहनेपर भी वे उसकी ओर उन्मुख होनेकी बजाय उससे विमुख हो जाते हैं ।

जिस प्रकार बालकके होठोंपर मलाईकी एक अंगुली लगाने मात्रसे शिशुका मुंह स्वयं मलाईकी ओर घूम जाता है और न मिलनेपर रोने लगता है, उसी प्रकार संस्कारोंके उपशमसे प्राप्त क्षणिक समताका रस आ जानेपर व्यक्तिकी सकल प्रवृत्तियां स्वयं उस ओर उन्मुख हो जाती हैं । वह सदा उसीका स्मरण किया करता है और न मिलनेपर छटपटाने लगता है । इस प्रकार संस्कारोंका उपशम यद्यपि कहनेके लिये क्षणमात्रका होता है, तदपि उसकी स्मृति चित्तको इस प्रकार जकड़ लेती है कि चाहनेपर भी वह उससे छूट नहीं सकता । उपशमसे प्राप्त यह रसोन्मुखता व्यक्तिको निरन्तर बाह्य-जगत्से हटाकर आभ्यन्तर-जगत्में प्रवेश पानेके लिये उकसाती रहती है, जिसके फलस्वरूप वह झूलेंमें झूलने लगता है । अपना पूरा बल लगाकर वह भीतरमें स्थित उस रसकी ओर जाता है परन्तु कुछ ही देरमें दुष्ट संस्कारोंके द्वारा पुनः बाहर

फेंक दिया जाता है। इस प्रकार कभी भीतर और कभी बाहर। भीतर तथा बाहरकी इस खींचतानमें न जाने उसके कितने जन्म बीत जाते हैं, परन्तु रसकी उस आद्य मधुर स्मृतिके कारण वह पुरुषार्थसे पीछे नहीं हटता। यद्यपि भीतर-बाहरकी इस खींचतान में उसे समताका वैसा रस नहीं आता जैसा कि उपशम वाले उस आद्य क्षणमें आया था, तदपि उसका कुछ-कुछ स्वाद अवश्य आता रहता है। संस्कारोंकी इस नाट्यलीला को करणानुयोगकी भाषामें 'क्षयोपशम' कहते हैं। इस अवस्थामें संस्कार यद्यपि उसे समताका पूरा रस लेने नहीं देते और न ही रसानुभूतिमें नैरन्तर्य आने देते हैं तदपि पुरुषार्थसे उसे पीछे हटा दें इतनी सामर्थ्य उनमें अब नहीं है।

इस पुरुषार्थके कारण उदयमें आनेसे पहले ही अर्थात् उससे पूर्ववर्ती क्षणमें ही सत्ता-स्थित संस्कारकी शक्तिका अथवा अनुभागका इतना अपकर्षण हो जाता है कि वह रसानुभूतिमें भले ही कुछ कभी उत्पन्न कर दे परन्तु उसका सर्वथा लोप कर सके, इतनी सामर्थ्य उसमें नहीं रहती। संस्कारकी शक्तिका कुछ क्षीण हो कर उदयमें आना अथवा यह कह लीजिये कि शक्ति क्षीण हो जानेके कारण संस्कारको अपना पूरा प्रभाव डालनेका अवसर प्राप्त न होना ही 'क्षयोपशम' का लक्षण है।

जिस प्रकार मोक्षिया-दिन्दुके कारण अन्धे हुए व्यक्तिकी आंखोंमें, अप्रेशनके द्वारा कदाचित् ज्योति आ जावे तो, एक क्षणसे अधिक वह आंखें खोल रखनेके लिये समर्थ नहीं हो पाता। बाहरके प्रकाशको सहन करनेके लिये समर्थ न होती हुई उसकी आंखें स्वतः मुंद जाती हैं। उसी प्रकार अनादि कालसे संस्कारोंके आधीन चले आनेवाले व्यक्तिमें गुरु-कृपासे कदाचित् संस्कारोंका प्रशमन हो जावे और तत्फलस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी रसानुभूति हो जावे तो, एक

क्षणसे अधिक वह उसे टिकाये रखनेके लिये समर्थ नहीं हो पाता । इसके तेजको सहन करनेके लिये समर्थ न होते हुए उसका चित्त पुनः तत्त्वसे हटकर बाह्य-जगत्में आ जाता है । उसका यह क्षणिक भाव व्यक्तिकी ओर देखनेपर रसानुभूति और संस्कारोंकी ओर देखनेपर 'उपशम' कहलाता है ।

जिस प्रकार वह रोगी ज्योतिके लोभसे अपनी मुंदा हुई आंखोंको पुनः पुनः खोलता है परन्तु पूरी ज्योतिको सहन करनेके लिये समर्थ न होनेके कारण उन्हें पूरी न खोलकर किञ्चिन्मात्र ही खोलता है, इसी प्रकार उपशमवाली रसानुभूतिके लोभसे व्यक्ति पुनः पुनः समताकी ओर झुकनेका प्रयत्न करता है, परन्तु पूर्ण समताको सहन करनेके लिये समर्थ न होनेके कारण पूरी तरह उसमें प्रवेश न करके किञ्चिन्मात्र ही प्रवेश करता है । किञ्चिन्मात्र आंख खोलनेके कारण जिस प्रकार वह रोगी ज्योतिको देखता तो अवश्य है परन्तु पूरी तरह नहीं देखता, धुंधला देखता है, इसी प्रकार किञ्चिन्मात्र समतामें प्रवेश पानेके कारण व्यक्तिको रसानुभूति तो अवश्य होती है परन्तु वैसी पूरी नहीं होती जैसी कि उपशम-वाले आद्य क्षणमें हुई थी, कुछ धुंधली होती है । यह धुंधली रसानुभूति उस व्यक्तिका 'क्षयोपशमिक-भाव' कहलाता है और संस्कारोंकी शक्ति क्षीण होकर उदयमें आना उसका 'क्षयोपशम' कहलाता है ।

संस्कारोंकी इस अवस्थामें क्षय तथा उपशम दोनोंका सम्मिश्रण होनेसे 'क्षयोपशम' संज्ञा सार्थक है । वर्तमान कालमें उदय आने योग्य संस्कारकी शक्ति उदय आनेसे पूर्व क्षणमें अत्यन्त क्षीण हो जाती है, यह उसका क्षय है; और आगामी कालमें उदय आने योग्य संस्कार सत्ताके कोशमें ज्योंके त्यों स्थित रहते हैं, अपकर्षण

उत्कर्षणको प्राप्त नहीं होते, यह उनका उपशम है। यदि ऐसा न हो तो अपकर्षण द्वारा अपने कालसे पहले ही उदयमें आकर वे उपशमके मजेको किरकिरा कर दें। यद्यपि उदयका यहां सर्वथा अभाव नहीं है, परन्तु जितना कुछ उदय यहां पर उपलब्ध होता है, उसकी शक्ति क्योंकि अत्यन्त क्षीण है, इसलिये उसकी गणना गौण कर दी जाती है।

जिस प्रकार बहुत कालतक आंखमिचौनी करते रहनेके उपरान्त रोगीका नेत्र-स्पन्दन सदाके लिये बन्द हो जाता है और स्वस्थ व्यक्तिकी भांति वह पूरी तरह नेत्र खोलनेके लिये समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार कई जन्मोंतक क्षायोपशमिक भावमें बाहर-भीतर झूलते रहने वाला चित्त-स्पन्दन सदाके लिये शान्त हो जाता है और व्यक्ति पूरी तरह समताकी भूमिमें प्रवेश पानेके लिये समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति भी सदाके लिए समताको हस्तगत करके निश्चिन्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें संस्कारका मूलोच्छेदन हो जाता है, सत्तामें भी उसका कहीं साया शेष नहीं रह जाता। इसलिये वह किसी समय उदय आकर अपना प्रभाव दिखाने लगे, ऐसी आशंका अब शेष नहीं रह जाती। संस्कारका यह मूलोच्छेद अथवा नाश सैद्धान्तिक भाषामें 'क्षय' कहा जाता है। समताकी दृष्टिसे उपशम तथा क्षयमें यद्यपि कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही पूर्ण हैं, तदपि स्थिति-कालकी दृष्टिसे दोनोंमें महान् अन्तर है। उपशमकृत समता क्षण मात्रके लिये अपने दर्शन देकर समाप्त हो जाती है, जबकि क्षयकृत समता सदाके लिये स्थित रहती है, एक बार उत्पन्न हो जानेके पश्चात् कभी समाप्त नहीं होती।

संस्कारका उपशम उस निथरे हुए पानी जैसा है जोकि हिल जाने पर तुरत तलीमें बैठी शेवालके उदित हो जानेके कारण मिला

हो जाता है, और उसका क्षय चश्मेसे लिये गये उस पानी जैसा है जोकि हजार बार हिलानेपर भी जैसा का तैसा निर्मल रहता है।

५. निधत्त निकाचित

निधत्त तथा निकाचित उस कठोर संस्कारकी संज्ञा है, जिसमें किसी भी प्रकार कभी कोई परिवर्तन होना सम्भव नहीं होता। अपना पूरा फल दिये बिना वह नष्ट नहीं होता। व्यक्तिको उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन दोनोंमें निकाचितकी अपेक्षा निधत्त कुछ कोमल होता है, क्योंकि इसमें यद्यपि अपकर्षण तथा संक्रमण होना सम्भव नहीं, तदपि उत्कर्षण अवश्य ही सकता है, जबकि निकाचितमें अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण तीनों ही नहीं हो सकते।

६. दसों करणों का एकत्व

करणानुयोगमें कथित दसों करणों या अधिकारोंको जिस प्रकार सिद्धान्त-शास्त्र द्रव्य-कर्ममें घटित करके बनाता है, उसी प्रकार वे अध्यात्मकी दृष्टिसे संस्कारमें भा घटित किए जा सकते हैं। इन सबका उल्लेख यद्यपि क्रमपूर्वक आगे-पीछे किया गया है, परन्तु वस्तुतः इनमें आगे-पीछेका कोई क्रम नहीं है। वस्तु-स्थितिमें दसों बातें युगपत् होती हैं। विचार करनेपर कोई भी एक समयवर्ती कर्म या क्रिया इन दसोंका सामूहिक फल होता है, इसलिये उससे इन दसोंकी कार्य-सिद्धि अथवा कारण-सिद्धि होती है। किसी भी एक समयवर्ती क्रियामें ये दसों बातें युगपत् घटित की जा सकती हैं। यथा—

मनकी, वचनकी, अथवा शरीरकी कोई भी क्रिया क्यों न हो, संस्कारोदयके बिना होना सम्भव नहीं। हमारी प्रत्येक क्रिया अथवा हमारा प्रत्येक परिणाम संस्कारोदयका डिग्री टु डिग्री अनुसरण

करता है। क्रिया हो और उदय न हो अथवा उदय हो और क्रिया न हो तो उदयका कोई सार्थक्य नहीं रहता, क्योंकि व्यक्तिके परिणामोंको प्रभावित करना अथवा फल प्रदान करना ही उदयका लक्षण है। इसलिये जहां क्रिया है वहां उदय अवश्य है। इसी प्रकार क्रिया हो और संस्कारकी उत्पत्ति न हो यह भी सम्भव नहीं। इसलिये जहां क्रिया है वहां नवीन संस्कारकी उत्पत्ति अथवा बंध भी अवश्य है। इस प्रकार हमारा प्रत्येक परिणाम अथवा हमारी प्रत्येक क्रिया जहां संस्कारोदयका कार्य है, वहां नवीन-संस्कारके बंधका कारण भी अवश्य है। बन्धके उपरान्त वह नष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत सत्तामें चला जाता है, इसलिये क्रियाके उस संस्कारमें बंधके साथ-साथ सत्त्व भी अवश्य है। इस प्रकार किसी एक ही क्रियामें बन्ध, उदय तथा सत्त्व ये तीनों करण युगपत् देखे जा सकते हैं।

हमारी प्रत्येक क्रिया जहां नवीन बन्ध, उदय तथा सत्त्व इन तीनों की कारण अथवा कार्य है, वहां ही सत्तामें पड़े पुरातन संस्कारोंके अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा संक्रमणकी भी कारण वही है। ऐसा नहीं है कि बन्ध, उदय, सत्त्व तो किसी अन्य परिणामसे होता है और अपकर्षण आदि किसी अन्य परिणामसे। इनका समय भी कोई भिन्न नहीं है। एक ही समयमें किसी एक ही परिणामसे जहां किसी नवीन संस्कारका बन्ध तथा सत्त्व निमित्त होता है, वहां ही सत्तामें पड़े पुराने संस्कारोंका अपकर्षण, उत्कर्षण तथा संक्रमण भी अवश्य होता है। एक ही परिणामके द्वारा एक ही समयमें ये छहों बातें युगपत् होती हैं।

जहां अपकर्षण, उत्कर्षण तथा संक्रमण होता है वहां उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने स्वाभाविक हैं, क्योंकि ये तीनों अपकर्षण आदिके कार्य हैं। इतनी विशेषता है कि उपर्युक्त छः काम एक ही समयमें युगपत् होते हैं, परन्तु ये तीनों युगपत् नहीं होते। किसी एक

समयमें एक ही होता है। उपशमके कालमें उसी संस्कारका क्षय क्षयोपशम, तथा क्षय क्षयोपशमके कालमें उसी संस्कारका उपशम सम्भव नहीं। इसी प्रकार क्षयके कालमें उसीका उपशम, क्षयोपशम, तथा उपशम क्षयोपशमके कालमें उसीका क्षय सम्भव नहीं। एक समयमें इन तीनोंमें से कोई एक ही करण होता है। किसी एक संस्कारका क्षय और किसी दूसरे संस्कारका क्षयोपशम अथवा उपशम हो यह सम्भव हो सकता है, परन्तु यहां उसकी विवक्षा नहीं है। इस प्रकार किसी एक समयमें किसी एक परिणामके हेतुसे बन्ध, उदय, सत्त्व, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण ये छः और उपशम, क्षय, क्षयोपशममें से कोई एक, ऐसे सात करण युगपत् होते हैं। सहज तथा स्वाभाविक होनेके कारण संस्कारोंके इस विधानमें किसी प्रकारका हेर-फेर सम्भव नहीं।

निधत्त तथा निकाचित जातिके कठोर संस्कारोंमें बन्ध, उदय, सत्त्व ये तीन ही करण सम्भव हैं, क्योंकि उनमें अपकर्षण आदिका निषेध है।



जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिसुगदी ॥

१. परतन्त्र भी स्वतन्त्र

संसारी जीवमें संस्कारोंके उदयसे नित्य ही रागादि परिणाम होते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप कर्म और कर्मोंके निमित्तसे संसार-भ्रमण, यह चक्र बराबर आजतक चला आ रहा है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार बताया गया है कि जीवके जैसे परिणाम होते हैं, उसको डिग्री टु डिग्री वैसा ही बन्ध होता है; जैसा बन्ध होता है, डिग्री टु डिग्री वैसा ही उदय होता है; और जैसा उदय होता है, डिग्री टु डिग्री वैसा ही परिणाम होते हैं। यहां यह शंका होनी स्वाभाविक है कि यदि जीवके परिणामोंका और बन्ध उदय आदिका डिग्री टु डिग्री सम्बन्ध है तो इस चक्रका विच्छेद जिस प्रकार आजतक नहीं हुआ है उसी प्रकार आगे भी कभी नहीं हो सकेगा।

शंका उपयुक्त है परन्तु निराश न होइये। जिस प्रकार निमित्त-के क्षेत्रमें सिद्धान्त अटल है, उसी प्रकार उपादानके क्षेत्रमें आपकी

स्वतन्त्रताका द्वार भी सदा खुला हुआ है। समन्वय ऐसा होना चाहिए जिसमें सिद्धान्त भी बाधित न हो और आपका मार्ग भी अवरुद्ध न हो। वास्तवमें ऐसा ही है परन्तु कुछ ध्यानसे देखना होगा। द्रव्य कर्मोंका अथवा संस्कारोंका बन्ध जीवके भाव-कर्मोंका डिग्री टु डिग्री अनुसरण करता है, यह सत्य है। और इसी प्रकार यह भी सत्य है कि जीवके परिणाम कर्मोंद्वयका डिग्री टु डिग्री अनुसरण करते हैं। परन्तु सौभाग्यवश कर्मका उदय अपने बंधका डिग्री टु डिग्री अनुसरण नहीं करता। उदय तथा बन्धके मध्य सत्ताके कोशकी वह विशाल खाई पड़ी है जिसमें प्रतिसमय अनेकों परिवर्तन होते रहते हैं। उत्कर्षण, अपकर्षण तथा संक्रमणके नामसे उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

यद्यपि उदयकी सीमामें प्रवेश पानेके पश्चात् कर्म या संस्कारमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन होना सम्भव नहीं, तदपि उदयकी सीमामें प्रवेश करनेसे पहले उसमें सब कुछ होना सम्भव है। यद्यपि बन्धके कुछ ही काल पश्चात् द्रव्य-कर्म अथवा संस्कार जीवको अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर देता है, तदपि सत्तामें स्थित द्रव्यकी अपेक्षा उसका परिमाण नगण्य तुल्य है। सत्ता-स्थित सारे द्रव्यकी स्थिति इतनी लम्बी होती है कि उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमणकी विविध श्रेणियोंको पार करता हुआ जबतक वह उदयकी सीमामें प्रवेश करता है तबतक उसका रूप कुछका कुछ हो चुका होता है। यहां यह बात याद रखने योग्य है कि कर्म या संस्कार जबतक उदयकी सीमामें प्रवेश नहीं कर जाता तबतक जीवके परिणामोंपर उसका कुछ भी प्रभाव पड़ना सम्भव नहीं। कर्म-सिद्धान्तके इस तथ्य में ही हमारी स्वतन्त्रता निबद्ध है।

२. दिशाफेर

हिताहितके विवेकसे शून्य सकल संसारीजन ऐन्द्रिय-भोगमें अत्यन्त आसक्त रहनेके कारण कभी भी अपने स्वातन्त्र्यकी ओर

नहीं झुकते और कामना रूपी बन्धनमें जकड़े हुए सदा भ्रमण करते रहते हैं। गुरु-कृपासे यदि कदाचित् कोई हितकी ओर झुकता भी है और उसके आदेशानुसार धार्मिक क्रियाओंमें प्रवृत्त होता भी है तो फलाकांक्षाका त्याग न कर पानेके कारण वह भी शुभ-अशुभके अथवा पुण्य-पापके द्वन्द्वका उल्लंघन करके समताकी उस भूमिमें प्रवेश पानेके लिये समर्थ नहीं होता, जहां पदार्पण किये बिना व्यक्तिको पारमार्थिक स्वतन्त्रता मिलनी सम्भव नहीं हैं। तथापि यदि कोई ईमानदारीसे अपना हित करना चाहे और कामनाके द्वारा प्रपञ्चमें न फंसे तो अपने इस स्वातन्त्र्यसे वह पूरी तरह लाभान्वित हो सकता है।

यद्यपि तीव्र संस्कारोंके उदय-कालमें व्यक्तिमें हिताहितका विवेक तथा उक्त ईमानदारी होनी सम्भव नहीं है, तदपि संस्कार-कोशमें से जब सहज रूपसे कोई एक मन्द संस्कार उदयकी सीमामें प्रवेश कर जाता है तब यदि वह चाहे तो गुरुकी शरणको प्राप्त होकर विवेक प्राप्त कर सकता है क्योंकि भोगासक्ति उसे ऐसा करनेकी आज्ञा नहीं देती इसलिये मन्दसंस्कारके उदयका जो अवसर उसे मिला था, वह व्यर्थ चला जाता है। हितोन्मुख होनेके लिये ऐसे अवसर हमारे जीवनमें अनेकों बार आते हैं परन्तु हम उनका मूल्यांकन न करके यों ही व्यर्थ गंवा देते हैं। ऐसा अवसरके प्राप्त होनेपर यदि कोई उसका सदुपयोग करे तो उसकी दिशा बदल जाती है।

इस अवसरकी प्राप्ति होनेसे पहले उसकी प्रत्येक क्रिया किसी न किसी रूपमें भोगासक्तिसे युक्त होती थी, इसलिये सत्तामें पड़े संस्कारोंकी स्थितिका उत्कर्षण होता जाता था और साथ-साथ पुण्यात्मक संस्कार पापात्मक के रूपमें संक्रमित होते जाते थे। पापात्मक बन-बनकर वे उदयमें आते रहते थे, जिसके कारण जीव

उत्तरोत्तर अधिक-अधिक पतनकी ओर जाता रहता था। परन्तु इस अवसर का सदुपयोग कर लेनेपर खेल उल्टा हो जाता है। स्थितियों बढ़नेकी बजाय अपकर्षण के द्वारा घटनी प्रारम्भ हो जाती हैं और पापात्मक संस्कार पुण्यात्मक के रूपमें संक्रमित होने लग जाते हैं। उत्तरोत्तर अधिक-अधिक पुण्यात्मक बन-बनकर उदयमें आनेके कारण जीव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक ऊपरकी ओर उठता जाता है।

जिस प्रकार एक घड़ा आँधा रख देनेपर उसके ऊपर जितने भी घड़े टिकाये जाते हैं, वे सब आँधे ही होते हैं, उसी प्रकार एक बार संस्कारके पापोन्मुख हो जानेपर, बन्ध, उदय, सत्त्व, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण आदि जितने कुछ भी करण उसकी सीमामें होते हैं वे सब पापोन्मुख ही होते हैं। और जिस प्रकार एक घड़ा सीधा रख देनेपर उसके ऊपर जितने भी घड़े टिकाये जाते हैं वे सब सीधे ही होते हैं, उसी प्रकार एक बार संस्कारके पुण्योन्मुख हो जानेपर बन्ध, उदय, सत्त्व, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि जितने कुछ भी करण उसकी सीमामें होते हैं वे सब पुण्यात्मक ही होते हैं।

इतना ही नहीं उसकी गतिमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, जिसे विज्ञानकी भाषामें acceleration कहते हैं। जिस प्रकार एक बार पांव फिसलजाने पर व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक-अधिक तेज़ीके साथ नीचेकी ओर जाता है, उसी प्रकार एक बार पापात्मक-संस्कारकी अधीनता प्राप्त हो जानेपर व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक-अधिक तेज़ीके साथ पापकी ओर जाता है। इसी प्रकार एक बार पुण्यात्मक-संस्कारकी अधीनता प्राप्त हो जानेपर व्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक-अधिक तेज़ीके साथ पुण्यकी ओर जाता है।

पुण्यका उदय होनेपर यदि व्यक्ति उसका विवेक-पूर्वक सदुपयोग करे तो उसके पुण्यात्मक परिणामके कारण नवीन पुण्यका बन्ध तो

होता ही है, साथ-साथ कर्मों या संस्कारोंमें चार बातें और भी होती हैं—पुण्य तथा पाप दोनोंकी स्थितिका अपकर्षण, पापात्मक संस्कारोंके अनुभागका अपकर्षण, पुण्यात्मक संस्कारोंके अनुभागका उत्कर्षण, और पापात्मक संस्कारोंका पुण्यके रूपमें संक्रमण। ऐसा हो जानेपर वर्तमान समयवर्ती पुण्यके उदयसे द्वितीय समयवर्ती पुण्यकी शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार अगले-अगले क्षणों में जो संस्कार उदय आते हैं वे अपने-अपने पूर्ववर्ती संस्कारोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक-अधिक शक्तिवाले होते हैं। फल-स्वरूप जीवके परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धसे विशुद्धतर और विशुद्धतरसे विशुद्धतम होते चले जाते हैं। बस यही है वह दिशा-फेर जिसके कारण व्यक्ति बराबर अधिक-अधिक वेगके साथ ऊपर उठता जाता है।

३. पुण्यका सार्थक्य

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पापकी भांति पुण्य भी बन्धन है, इसलिये उसकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे व्यक्तिको स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती है। प्रश्न उचित है, परन्तु आपने यहां पुण्यको केवल एक पक्षसे देखा है। इसके दूसरे पक्षको देखनेपर समाधान स्वयं हो जाता है। पुण्य दो प्रकार का होता है—पारमार्थिक हितके विवेकसे शून्य लौकिक पुण्य, तथा पारमार्थिक हितके विवेकसे युक्त पारमार्थिक पुण्य। पहला पापानुबन्धी कहलाता है, क्योंकि फला-कांक्षासे युक्त होनेके कारण उससे प्राप्त सुखोंमें व्यक्ति आसक्त होकर प्रायः न्याय अन्यायको भूल जाता है। दूसरा पुण्यानुबन्धी कहलाता है, क्योंकि फलाकांक्षासे निरपेक्ष तथा हिताहितके विवेकसे युक्त होनेके कारण वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता है।

दूसरी बात यह भी है कि भले ही बन्धकी अपेक्षा पाप तथा पुण्य दोनों बराबर हों, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिसे दोनोंमें आकाश-

पातालका अन्तर है। पाप सर्वथा बन्ध है और पुण्य कथंचित् बन्ध। इसका कारण यह है कि पापके द्वारा पाप तथा पुण्य दोनोंकी स्थितिका उत्कर्षण होता है जिससे संसारकी वृद्धि होती है, और पुण्यके द्वारा पाप तथा पुण्य दोनोंकी स्थितिका अपकर्षण होता है जिससे संसारकी हानि होती है। विवेक-युक्त अथवा पुण्यानुबन्धी पुण्य होनेपर यह अपकर्षण या संसार-हानि सामान्य पुण्यकी अपेक्षा कई गुणी अधिक होती है, इसलिये परमार्थ हितके पथमें वह पुण्य अत्यन्त उपादेय है।

इस विषयमें यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इसके द्वारा पापकी स्थिति या आयुका तो नाश होता ही है, स्वयं अपनी भी आयुका नाश होता है। यह अपनी आयुका गला स्वयं घोटता है जब कि पाप सदा उसे परिपुष्ट करनेमें जुटा रहता है। दूसरी ओर वर्तमान समयवर्ती पुण्यके परिणामसे द्वितीय समयमें उदय आने योग्य पुण्यका अनुभाग बढ़ जाता है। इस द्वितीय समयवर्ती पुण्यके परिणामसे तृतीय समयमें उदय आने योग्य पुण्यका अनुभाग कई गुणा अधिक बढ़ जाता है। इस तृतीय समयवर्ती पुण्यके परिणामसे चतुर्थ समयमें उदय आने योग्य पुण्यका अनुभाग उसकी अपेक्षा भी असंख्यात गुणा अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समयोंके पुण्योदयसे सत्ता-स्थित पुण्यका अनुभाग उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यात गुणा बढ़ता जाता है, और साथ-साथ उनकी आयु या स्थिति असंख्यात असंख्यात गुणी घटती जाती है।

इसका फल द्विमुखी होता है—एक ओर तो परिणामोंकी विशुद्धिमें उत्तरोत्तर अधिक-अधिक वृद्धि होती है और दूसरी ओर संसार-वासकी अवधिमें उत्तरोत्तर हानि होती है। परिणामोंकी वृद्धिगत विशुद्धिके द्वारा व्यक्ति अधिक-अधिक समताकी ओर जाता है और संसार-वासकी उत्तरोत्तर हानिसे उसका किनारा

निकट आता है। यही कारण है कि कषाय-युक्त कर्म को साम्प-
 रायिक और कषाय-विहीनको ईर्यापथ कहा गया है, फलाकांक्षासे
 युक्त सकाम कर्मको बन्धनकारी और फलाकांक्षासे निरपेक्ष निष्काम
 कर्मको अबन्ध कहा गया है। कषाय-विहीन अथवा फलाकांक्षासे
 निरपेक्ष कर्म ही वह लोकोत्तर पुण्य है, जिसके द्वारा बन्ध होता
 अवश्य है परन्तु केवल अनुभागका होता है स्थितिका नहीं। स्थिति
 ही संसार-वासकी हेतु है, अनुभाग नहीं। स्थितिको नष्ट करते
 रहनेके कारण ही पुण्य परम्परा रूपसे मोक्षका हेतु कहा जाता है।
 यद्यपि लौकिक पुण्यसे ही स्थितिका नाश होता अवश्य है, परन्तु वह
 इसकी अपेक्षा नगण्य तुल्य है। इसलिये कल्याणके पथमें उसकी
 चर्चा नहीं की जाती।

इस विषयमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि चित्तकी
 स्थिति दो ही प्रकारकी होनी सम्भव है—सम या विषम। जब
 तक पूर्ण समता हस्तगत नहीं हो जाती तबतक विषमता रहनी
 स्वाभाविक है। यह बात ठीक है कि साधक ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता
 है, समता बढ़ती जाती है और विषमता कम होती जाती है।
 परन्तु कितनी भी हीन क्यों न हो जाय, है तो विषमता ही।
 विषमताके सद्भावमें विषमता युक्त कर्म ही सम्भव है, समता
 युक्त नहीं। अधिक विषमताके सद्भावमें अधिक विषम और हीन
 विषमता के सद्भावमें हीन विषम।

पापकर्म सकाम ही होता है, निष्काम नहीं, क्योंकि भोगाकांक्षा
 ही व्यक्तिको पापमें नियोजित करती है। पुण्यकर्म दो प्रकार का
 होता है सकाम और निष्काम। सकाम पुण्य लौकिक है और
 निष्काम पुण्य लोकोत्तर। देव-दर्शन, पूजा, कीर्तन, भजन, पाठ,
 गुरुसेवा, समाज-सेवा, भक्ति, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, संयम,
 त्याग, तप, ध्यान, समाधि सभी सकाम भी होते हैं और निष्काम

भी । सकाम होनेपर ये पापानुबन्धी हैं और निष्काम होनेपर पुण्यानुबन्धी । संसार-हानिका हेतु होनेसे निष्काम पुण्यको परम्परा रूपसे मोक्षका हेतु कहा गया है, सकाम पुण्यको नहीं । इसलिये हे कल्याणकामी ! तू पुण्य कर्मका त्याग मत कर, इससे उत्पन्न फलकी आकांक्षाका त्याग कर । काम व्यक्तिको नहीं चिपटता, कामना चिपटती है । यह कामना ही वह परिग्रह है जिसे पापका कारण कहा गया है । 'मूर्च्छा परिग्रहः' । इसका त्याग ही परम तप है । 'इच्छात्यागः तपः' । अतः पुण्य कर्म उपादेय है, इसके फलकी आकांक्षा हेय है ।

निष्काम पुण्यका अवलम्बन लेनेसे तू अवश्य एक दिन संस्कारोंकी आधीनताका उच्छेद करके स्वतन्त्र हो जायेगा । ●

- ★ तेरा हे तेरे ही पास तूम खोज रहे हो आसपास
- ★ भगवान किसी स्थान पर नहीं वे प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करते हैं ।
- ★ भावना भव नाशिनी—भावना जन्म-मरण को नष्ट करती है, हृदय की कलुषता को दूर करती है और अमृत जीवन प्रदान करती है ।

१. विशिष्ट पुण्य

कल्याणके मार्गमें उपादेय जिस पुण्यानुबन्धी पुण्यका उल्लेख पूर्व अधिकारमें किया गया है, उसका सैद्धान्तिक स्वरूप शास्त्रोंमें पंच-लब्धिके नामसे प्रसिद्ध है। पंच-लब्धिके प्रकरणमें यद्यपि सामान्य रूपसे जीवकी तत्त्वोन्मुखी पांच प्रधान उपलब्धियोंका विवेचन निबद्ध है, तदपि सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर इन पांच बातोंमें समस्त आचार शास्त्र और विशेषतः गृहस्थाचार गर्भित है। यद्यपि मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ होता है जिसके बिना ज्ञान चारित्र संयम तप आदि सब मिथ्या कहे गए हैं, तदपि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति भी किसी विशिष्ट जातिके पुण्यका फल है, यही बात पंच-लब्धिके प्रकरणमें जोर देकर कही गयी है। ग्रन्थके अन्तमें पुण्यके विषयपर जो मैं इतना बल दे रहा हूँ, इसमें मेरा कोई पक्षपात निहित नहीं है। 'आप सबका कल्याण हो, आप ऊपर उठें' इतना मात्र प्रयोजन है।

संस्कारवश जगत्में अनेक प्रकारकी भ्रान्तियां प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऊपर उठनेका संकल्प

करके भी प्रायः सभी इन भ्रान्तियोंमें अटक जाते हैं। कोई तत्त्व-दृष्टिकी उपेक्षा करके केवल बाह्याचारमें अटक जाते हैं, और कोई तत्त्वदृष्टिकी महिमाका गान करते-करते -बाह्याचारको अथवा आचार शास्त्रको भूल जाते हैं। हे प्रभो! जीवनोन्नतिके पथमें दोनोंका ही समान महत्त्व है, किसीका हीन और किसीका अधिक नहीं है। यद्यपि समझने तथा समझानेके लिये हम इनमें से किसी एकपर अधिक बल देकर दूसरेको गौण कर सकते हैं, परन्तु जिस-प्रकार कि कारखानेकी मशीनोंमें गरारी तथा उसमें लगी हुई छोटीसी पिन इन दोनोंका समान स्थान है, इसी प्रकार जीवन-शालाके तात्त्विक विधानमें तत्त्वदृष्टि तथा आचरण दोनोंका समान स्थान है। यद्यपि तत्त्वदृष्टि जाग्रत होनेके पश्चात् दोनों परस्पर सापेक्ष होकर एक दूसरेके सहयोगी हो जाते हैं, तदपि तत्त्वदृष्टि जाग्रत होनेसे पहले मुमुक्षुके लिये पुण्य ही एक मात्र अवलम्बन है, जिसके बिना तत्त्वदृष्टि जाग्रत होना सम्भव नहीं।

सम्यग्दर्शनके कारणोंमें जिन-बिम्ब-दर्शन, धर्म-श्रवण, जिन-महिमा-दर्शन, देवद्विदर्शन आदि जिन बातोंका उल्लेख शास्त्रमें प्राप्त होता है वे तो सब पुण्य हैं ही, उनके अतिरिक्त शास्त्राध्ययन, तत्त्वचर्चा, तत्त्व-चिन्तन, मनन, उपदेश आदि जो कुछ भी है वह सब पुण्य है। तिसपर भी पंचलब्धिमें निबद्ध पुण्य विशिष्ट प्रकारका है, क्योंकि इन सबकी भांति वह सम्यग्दर्शनका परम्परा हेतु न होकर साक्षात् हेतु है। इसलिये सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये पुण्यका अवलम्बन लेना न्याय्य है।

पंचलब्धिके प्रकरणमें निबद्ध विषय अत्यन्त वैज्ञानिक है और तनिक सी सूक्ष्म दृष्टि करनेपर अपने भीतर प्रत्यक्ष किया जा सकता है। व्यक्तिको अनेकों उपलब्धियां नित्य होती हैं, जिनमें अनेकों भौतिक होती हैं और अनेकों आध्यात्मिक। परन्तु बहिर्मुख होनेके

कारण जीवनोन्नतिके क्षेत्रमें उनका कोई मूल्य नहीं है। पंच-लब्धिके प्रकरणमें चेतनाकी अन्तर्मुखी उन पांच उपलब्धियोंका विवेचन किया गया है जो कि उसकी दृष्टिको बाहरसे हटा कर धीरे-धीरे अन्तरंगकी ओर ले जाती हैं। शरीर इन्द्रिय मन बुद्धिसे हटाकर हृदयकी ओर ले जाती है। तर्क-लोकसे हटाकर भाव-लोककी ओर ले जाती है। ये वास्तवमें मुमुक्षु के पांच आद्य सोपान हैं जिनके द्वारा उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई उसकी दृष्टि तत्त्वालोकमें प्रवेश पानेके लिये समर्थ हो जाती है। इसीलिये इसके पुण्यको विशिष्ट कहा गया है। क्रमोन्नत इन पांच उपलब्धियोंके नाम हैं— क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना-लब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करण-लब्धि।

२. क्षयोपशम लब्धि

समझने तथा समझानेकी शक्ति प्राप्त हो जाना 'क्षयोपशम-लब्धि' कहलाती है। यद्यपि कीट पतंग आदि क्षुद्र योनियोंको छोड़कर शेष सभी प्रकारके जीवोंको समझने तथा समझानेकी सामान्य शक्ति प्राप्त है, तदपि उसका प्रयोग ऐन्द्रिय विषयोंके प्रति होनेसे यहां उसे लब्धि नहीं कहा जाता। गुरुजनोंके द्वारा दिये गये उपदेशको अथवा शास्त्रोल्लिखित अर्थको बुद्धिके द्वारा अवधारण कर लेना ही क्षयोपशम-लब्धि कही जाती है। समझने तथा समझानेकी सामान्य शक्ति वाले सभी जीव अपनी इस योग्यताका प्रयोग इस दिशामें कर सकते हैं, तदपि सभी प्रायः अपनी इस मूल्यवान उपलब्धिको लौकिक विषयोंके समझने समझानेमें नष्ट कर देते हैं।

पूर्वोपार्जित किसी पुण्यके उदयसे जिन्हें कदाचित् इसका सदुपयोग करनेकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है, वे अपनी इस उपलब्धिसे लाभान्वित होनेके लिये शास्त्राध्ययनमें, पठन-पाठनमें, मनन-

चिन्तनमे अथवा उपदेश-श्रवणमें प्रवृत्त होते हैं, और बुद्धिके द्वारा तत्त्वोंका निर्णय करनेमें सफल हो जाते हैं। परन्तु इतना हो जानेपर भी अधिकतर व्यक्ति ज्ञानाभिमानके कारण अपनेको कृत-कृत्य मान बैठते हैं। तदनुसार आचरण करनेकी बजाय दूसरोंको उपदेश देनेमें ही अपनी इस उपलब्धिका सार्थक्य समझते हैं। फल होता है यह कि न तो स्वयं ऊपर उठ पाते हैं और न ही उनका उपदेश सुनने वाले श्रोतागण ही अपने हृदय में कुछ परिवर्तन कर पाते हैं। 'यथा गुरु तथा शिष्य' की उक्तिके अनुसार जिस प्रकार बौद्धिक विद्वान् चर्चा करने तथा दूसरोंको उपदेश देनेमें सीमित रहते हैं, उसी प्रकार इनके श्रोता अथवा शिष्यजन भी केवल चर्चाओं तक अथवा दूसरोंको उपदेश देने तक ही सीमित हो कर रह जाते हैं। अपनेको उपदेश देना न उनके गुरु ने सीखा है और न वे सीख पाते हैं। अभिमानवश सच्चे गुरुका अन्वेषण नहीं करते। यदि कदाचित् करते हैं तो उन्हें कहीं गुरु दिखाई ही नहीं देते, क्योंकि सर्वत्र दोष-दर्शन करना अभिमानका स्वभाव है। गुण-दर्शन करनेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं है, गुरुकी उपलब्धि कैसे हो ?

३. विशुद्ध लब्धि

पूर्वोपाजित किसी पुण्यके उदयसे अथवा पूर्व-भवमें की गयी साधनाके संस्कारवश यदि कोई सत्यान्वेषी दूसरोंको उपदेश देनेकी बजाय क्षयोपशम लब्धिका प्रयोग अपनेको उपदेश देनेमें करे तो वह बुद्धि के क्षेत्र से ऊपर उठकर भाव-लोकमें प्रवेश करता है। ख्याति लाभ पूजा रूप अथवा लज्जा भय गौरव रूप स्वार्थसे अनुरंजित अपनी सकल प्रवृत्तियोंको वह लोकोपकारमें लगाने लगता है। फलस्वरूप उसके हृदयके कपाट धीरे-धीरे खुलने लगते हैं अर्थात् उसमें प्रेमका विकास होने लगता है। निःस्वार्थ-सेवा या लोकोप-कारवाला ये साधारण प्रेम मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्य आदिक

उत्तरोत्तर उन्नत विविध श्रेणियोंका अतिक्रम करते हुए इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसे अपने दोष तथा दूसरोंके गुण दिखने लगते हैं, जिसके कारण वह बराबर आत्म-निन्दन, गर्हण, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त आदिके द्वारा आत्म-शोधन करता रहता है। उसके परिणाम अधिक अधिक विशुद्ध होने लगते हैं। वह स्वदुःख सहिष्णु और पर-दुःखकातर बन जाता है। इस प्रकार परिणामोंमें प्रतिक्षण असंख्यातगुणी विशुद्धि होते जाना ही 'विशुद्धिलब्धि' का लक्षण है।

इतना हो जानेपर भी व्यक्ति प्रायः स्वोपकारको भूलकर परोपकार में ही उलझा रहता है। स्वोपकार क्या वस्तु है इसे वह समझ नहीं पाता। परोपकारके कारण उसे यद्यपि लोकमें सर्वत्र प्रेम सहानुभूति तथा प्रशंसा प्राप्त हो जाती है, तदपि तत्त्वदृष्टि खुलने नहीं पाती, अर्थात् बाह्याभ्यन्तर इस जगत्की कार्य-कारण व्यवस्था किस प्रकार चल रही है और मेरा उसमें क्या तथा कितना स्थान है, इस रहस्यको वह हस्तगत नहीं कर पाता। यद्यपि प्रेमका कुछ विकास हो जानेके कारण वह गुणीजनोंकी अथवा गुरुजनोंकी विनय अवश्य करता है परन्तु अभिमानका लेश जीवित रहनेके कारण गुरुके चरणोंमें आत्म-समर्पण का भाव उसके हृदयमें जागृत नहीं हो पाता, और इस प्रकार गुरुकी उपलब्धिसे वंचित रहता हुआ वह केवल पुण्यका बन्ध करता है, पारमार्थिक उन्नति नहीं। उसका यह पुण्य हृदयसे उद्गत होनेके कारण यद्यपि रूढिग्रस्त साम्प्रदायिक पुण्यकी अपेक्षा विशिष्ट प्रकारका होता है, तदपि अभिमान-युक्त होनेके कारण पापानु-बन्धीकी सीमाका उल्लंघन करने नहीं पाता।

४. देशना लब्धि

तथापि यदि पुण्यके वेगमें विवेकका पल्ला उसके हाथसे नहीं छूट जाता तो क्षयोपशम-लब्धिके द्वारा वह बराबर अपनेको उपदेश

देता रहता है, और विशुद्धि-लब्धिके द्वारा आत्म-शोधन करता रहता है। फलस्वरूप परिणाम-विशुद्धिमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेके कारण उसका अभिमान धीरे-धीरे इतना मन्द पड़ जाता है कि उसे गुरु-चरणोंमें आत्म-समर्पण करनेका भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरी ओर इस जगत्में उसे सर्वत्र स्वार्थ ही स्वार्थ नाचता दिखाई देने लगता है जिसके कारण उसे इसके प्रति संवेग हो जाता है, अर्थात् इसको हर वस्तुसे उसे डर लगने लगता है। इस भयसे अपनी रक्षा करने के लिये वह गुरुका अन्वेषण करता है। गुरु कहीं दूर नहीं थे, उसके पास ही बैठे थे, परन्तु अभिमानसे आँखें मूंदी होनेके कारण उसे दीख नहीं रहे थे। गुरु की प्राप्ति कठिन नहीं थी, शिष्यत्वकी प्राप्ति ही कठिन थी। अभिमान गलित हो जानेसे ज्यों ही उसमें शिष्यत्वका उदय हुआ त्यों ही उसे निकटमें स्थित गुरुके दर्शन हो गए।

वह तुरत गुरुके चरणोंमें लोट जाता है। एक क्षणमें उसका सर्वस्व गुरुका हो जाता है। गुरुके अतिरिक्त उपको अपनी कोई सत्ता नहीं रह जाती। गुरु-आज्ञाका पालन करनेके अतिरिक्त इस जगत्में अब उसका अन्य कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता। गुरु उचित आज्ञा दे रहे हैं या अनुचित यह सब कुछ सोचनेकी अब उसे कोई आवश्यकता नहीं है। उसे अब उपदेश की नहीं आदेश की अपेक्षा है। तर्क वृद्धि विराम पा चुकी है। गुरुका आदेश होनेपर वह भूखा रह सकता है, कुएंमें छलांग लगा सकता है, अग्निमें कूद सकता है, अपने हाथसे अपना सर काट सकता है। बस यही है उसका शिष्यत्व। यहां तर्कके लिये कोई स्थान नहीं है। बस आज्ञा-पालन, आज्ञा-पालन, आज्ञा-पालन, और कुछ नहीं।

गुरुकी महिमा अपार है जिसे हृदय ही समझ सकता है तर्क नहीं। उसकी महिमा उपदेश देनेमें निबद्ध नहीं है क्योंकि वह शास्त्र

पढ़कर भी प्राप्त किया जा सकता है। जिनके पास हृदय नहीं है, जो हृदय लोककी बात नहीं जानते, वे इस रहस्यको समझ नहीं सकते। देशनाको शब्दोपदेश मात्र समझने वालोंकी दृष्टि भौतिक है।

देशना वास्तवमें शाब्दिक उपदेशका नाम नहीं है। शाब्दिक उपदेश हो या न हो उसका कोई अधिक महत्त्व नहीं है। देशना-लब्धि हृदयसे हृदयमें होती है। गुरुके हृदयसे शिष्यके प्रति जो आशीर्वाद-पूर्ण सदभावनायें तथा प्रेरणायें निकलती हैं, उनका शिष्य के हृदयमें स्पर्श हो जाना ही देशना-लब्धि है। जिस प्रकार माता तथा शिशुमें द्वैत नहीं होता उसी प्रकार गुरु तथा शिष्यमें भी द्वैत नहीं होता। माता जिस प्रकार अपने शिशुको आत्मसात् कर लेती है, उसी प्रकार गुरु शिष्यको आत्मसात् कर लेता है। ऐसा हो जानेपर जिस प्रकार माता अपने प्रेमसे ही रोते हुए बच्चेको चुप करा देती है, उसके दुःख का हरण कर लेती है, उसी प्रकार गुरु भी अपने प्रेमसे ही शिष्यकी तत्त्वाभिमुखी अभिलाषा अथवा छटपटाहटको शान्त कर देते हैं, निराशाका अपहरण कर लेते हैं, उसके जीवनमें धार्मिक उत्साह जाग्रत कर देते हैं।

५. दीक्षा

शिष्यके व्यक्तित्वको बदल देनेवाली इस हार्दिक विधिकी आचार शास्त्रमें 'दीक्षा' शब्दके द्वारा अभिहित किया जाता है। यद्यपि व्यवहार भूमि पर दीक्षाका स्वरूप केवल वेष देना अथवा पीछी कमण्डलु आदि पकड़ा देना मात्र प्रसिद्ध है, परन्तु इसका सैद्धान्तिक स्वरूप अत्यन्त गुह्य तथा रहस्यात्मक है। इसी कारण उसका उल्लेख शास्त्रोंमें प्राप्त नहीं है। हृदयभूमिमें प्रवेश किये बिना उसका परिचय पाना सम्भव नहीं, इसीलिये शब्दोंमें उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। यह रहस्य केवल गुरुगम्य है। ध्यान रहे कि यहां 'गुरु' शब्द के द्वारा जिस तत्त्वकी ओर मैं संकेत कर

रहा हूँ वह बुद्धिमें नहीं हृदयमें स्थित है, उपदेशमें नहीं, आदेशमें स्थित है। उसका उपदेश मुखसे न होकर आंखोंसे होता है।

आधुनिक भाषामें हम इसे हिप्नोटिज्म कह सकते हैं। गुरु जब शिष्यकी आंखोंमें आंखें डालकर देखता है और उसी समय शिष्य भी जब गुरुकी आंखोंमें आंखें डालकर देखता है तो माता तथा शिशुकी भांति दोनोंमें एकत्व स्थापित हो जाता है। आंखोंके माध्यमसे गुरु अपने शक्तिशाली हार्दिक स्पन्दको अथवा अन्तः-प्रेरणाको शिष्यके हृदयमें प्रवेश करा देता है, जिसके कारण एक क्षणमें शिष्यके मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्तका आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। उसके अध्ययन श्रवण मनन चिन्तन आदि-की दिशा सर्वथा भीतरकी ओर उन्मुख हो जाती है। बाह्य जगत् मानो उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है। इस विषयमें इससे अधिक कहा जाना सम्भव नहीं। यद्यपि दीक्षाका यह स्वरूप शास्त्रोंमें निबद्ध नहीं है परन्तु यह सत्य है, जिसको प्रामाणिकता प्रायोग्य नामक चतुर्थ लब्धिसे सिद्ध की जा सकती है।

मैं जानता हूँ कि यह बात आपके लिये सर्वथा नई है, और इसलिये आपको मेरी बातपर विश्वास नहीं आयेगा, न ही मैं विश्वास करनेके लिये आपसे कोई आग्रह करूंगा। तथापि इसका उल्लेख किये बिना अगली लब्धियोंके साथ संगति बैठाना क्योंकि मेरी दृष्टिमें सम्भव नहीं है इसलिये मैंने यहां उसका संकेत मात्र किया है। आपसे प्रार्थना है कि इसे बालप्रलाप मात्र समझकर छोड़ देना और इस विषयमें जो कुछ भी आपकी धारणा है, उसे ही प्रमाण करना।

६. प्रायोग्य-लब्धि

एक क्षणमें कर्मोंको स्थितिका ७० कोड़ाकोड़ीसे घटकर एक कोड़ाकोड़ी सागरसे भी कम रह जाना 'प्रायोग्य लब्धि' का स्वरूप

है। शास्त्रोंमें इसके विषयमें इससे अधिक अन्य कुछ भी लिखा हुआ उपलब्ध नहीं होता है। सम्यग्दर्शनके अभावमें भी स्थितिकी इस प्रकार क्षति हो जाना किसी साधारण हेतुसे नहीं हो सकता। देशना-लब्धिके पश्चात् कही गयी होनेसे यह स्पष्ट है कि कर्मोंकी स्थितिका इतना बड़ा अपकर्षण देशनालब्धिके प्रभावसे हुआ है, इसलिये देशनालब्धिका अर्थ केवल शाब्दिक देशना न होकर, हार्दिक कुछ है। हृदयमें ही वह शक्ति है कि एक क्षणमें व्यक्तिके जीवनको बदल डाले। हृदयसे निःसृत तथा हृदयमें प्रविष्ट देशनासे शिष्यके हृदयमें यह विश्वास जागृत हो जाता है कि गुरु-कृपासे मेरा कल्याण अवश्य होगा और शीघ्र होगा। इसी प्रकारका आत्म-विश्वास हो जाना ही कर्मोंकी स्थितिका घट जाना है।

करणानुयोगकी भाषामें जिसे कर्मोंकी स्थितिका अपकर्ष कहा गया है, उसे ही अध्यात्मकी भाषामें हम आत्मोत्कर्ष कह सकते हैं। इस लब्धिके हस्तगत हो जानेपर व्यक्ति अपनेको इतना हलका महसूस करने लगता है कि वह मानो इस पृथिवीको छोड़कर आकाशमें उड़ा जा रहा है। जिस प्रकार सरका भार उतार देने-पर मजदूर या कुली हलका हो जाता है उसी प्रकार तर्क वितर्क का तथा विकल्पोका भार हट जानेपर व्यक्तिका चित्त हलका हो जाता है। यही प्रायोग्य लब्धि है, इसके बिना तात्त्विक क्षेत्रमें प्रवेश पाना सम्भव नहीं।

७. करण लब्धि

‘करण’ शब्दका अर्थ परिणाम है, इसलिये उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणाम-विशुद्धि ही इस लब्धिका लक्षण है। ज्यों-ज्यों परिणाम विशुद्ध होते जाते हैं त्यों-त्यों संस्कारोंका आवरण हटता जाता है, और ज्यों-ज्यों संस्कारोंका आवरण हटता जाता है त्यों-त्यों परिणाम विशुद्ध होते जाते हैं। यहाँतक कि इस लब्धिकी पूर्णता

हो जानेपर व्यक्ति तत्त्वका साक्षात् करनेमें सफल हो जाता है। ऐसी ही जानेपर उसे भीतर तथा बाहर सर्वत्र किसी एक तात्त्विक विधानका दर्शन होने लगता है। तत्त्व ही तत्त्वमें वर्तन करते दिखाई देते हैं, अन्य कोई भी कुछ करता दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार मशीनकी आटोमेटिक क्रिया बिना आप्रेटरके सहज रूपसे स्वयं होती है, उसी प्रकार तात्त्विक व्यवस्थाके आधीन उसे इस विश्वमें, बिना किसीके कुछ किये, सब कुछ सहज रूपसे स्वतः होता दिखाई देता है। यही है उसकी उस आभ्यन्तर दृष्टिका उद्बोधन जिसका उल्लेख कि प्रथम अधिकारमें किया गया है। यही है तत्त्व दृष्टिकी उपलब्धि, समीचीन दृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि।

तत्त्वोन्मुखी अन्तरंग पुरुषार्थ ही इस लब्धिका स्वरूप है, इसलिये यह तत्त्वोपलब्धिका साक्षात् हेतु है, जबकि अन्य चार लब्धियां उसकी साक्षात् हेतु न होकर परम्परा हेतु हैं। प्रधान पुरुषार्थ होनेके कारण पांचों लब्धियोंमें यह सर्व-प्रधान है। क्षयोपशम-लब्धिके द्वारा केवल तत्त्वोंका बौद्धिक निर्णय किया गया था जहां आकर वह हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है, जिसके कारण व्यक्ति व्यवहार भूमिपर भी तदनुसार ही वर्तन करनेका प्रयत्न करने लगता है। विशुद्धि-लब्धिके द्वारा उसे आत्मदोष और पर-गुण दर्शन होने लगता है, जिसके कारण वह पश्चात्ताप प्रायश्चित्त आदिके द्वारा आत्म-शोधन करने लगता है। देशना-लब्धिमें आकर उसे गुरुकी अन्तःप्रेरणा प्राप्त हो जाती है, जिसके कारण उसके मन बुद्धि आदिका आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। तत्फलस्वरूप उसे आत्मोत्कर्षकी अनुभूति होती है।

इतनी कुछ भूमिका बन जानेके पश्चात् जब वह 'करण लब्धि' में प्रवेश पाता है तो अपने चित्तकी वृत्तियोंको बाहरसे समेटकर उसी प्रकार भीतरकी ओर खींच लेता है जिस प्रकार कि कछुआ

अपने सब अंगोंको बाहरसे समेट कर भीतर खींच लेता है। ऐसा करनेसे उसकी वे सकल शक्तियां जो कि चित्तके माध्यमसे बाह्य जगत्में यत्रतत्र बिखरकर व्यर्थ नष्ट हो रही थीं, अब आत्मानुसन्धानके प्रति नियोजित हो जाती हैं। श्रवण, पठन, पाठन, मनन, चिन्तन, उपदेश आदिसे उपरत होकर वह दर्शनका अवलम्बन लेता है। सहज रूपसे अपने भीतर जो तथा जैसा देखता है उसीका अध्ययन करता है। इस प्रकार उसका शास्त्राध्ययन स्वाध्ययन या स्वाध्यायके रूपमें रूपान्तरित हो जाता है। बाह्य जगत्के ऐन्द्रिय विषयोंके प्रति यद्यपि उसे अभी पूरा वैराग्य नहीं आया है, तदपि गुरु कृपासे देशना लब्धिके द्वारा इतना वैराग्य अवश्य प्राप्त हो गया है कि वह बाह्य विषयोंको निःसार देखते हुए उनको कुछ देरके लिए उपेक्षा कर सके। फलस्वरूप परिणामोंको विशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने लगती है।

परिणाम-विशुद्धिके इस विकासको लक्ष्यमें रखकर हम करण-लब्धिके स्वरूपका दो दृष्टियोंसे अध्ययन कर सकते हैं—एक जीवकी अपेक्षा और अनेक जीवोंकी अपेक्षा। एक जीवकी अपेक्षा अध्ययन करनेपर हम देखते हैं कि प्रति क्षण उसके परिणाम अधिक-अधिक विशुद्ध होते जाते हैं। साथ-साथ ज्यों-ज्यों ऊपर जाता है विशुद्धि-वृद्धिको गति भी बढ़ती जाती है। अनेक जीवोंकी अपेक्षा अध्ययन करनेपर हम देखते हैं कि करण-लब्धिमें युगपत् प्रवेश करनेवाले अनेक जीवोंके परिणामोंमें तरतमता पाई जाती है। कुछके परिणाम कम विशुद्ध होते हैं, कुछके अधिक और कुछके परस्पर समान। परन्तु ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं त्यों-त्यों यह तरतमता घटती जाती है, यहांतक कि अन्तमें जाकर सबके परिणामोंकी विशुद्धि समान हो जाती है।

इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिए आचार्योंने इस लब्धिके स्वरूपको उत्तरोत्तर उन्नत तीन सोपानोंमें विभक्त करके दर्शाया

है—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। अधःकरणमें विकासकी श्रेणी जघन्य होती है, अपूर्वकरणमें मध्यम और अनिवृत्तिकरणमें उत्कृष्ट। अधःकरणमें विकासकी गति अत्यन्त मन्द होती है, अपूर्वकरणमें कुछ अधिक और अनिवृत्तिकरणमें बहुत अधिक। अधःकरणमें अनेक जीवोंके परिणामोंकी तरतमता बहुत अधिक होती है, अपूर्वकरणमें बहुत कम और अनिवृत्तिकरणमें निल अर्थात् सर्वथा नहीं। यहां पहुँचनेपर युगपत् प्रवेश करनेवाली सभी जीवोंकी परिणाम-विशुद्धि समान होती है, और विशुद्धिमें प्रतिक्षण वृद्धि करनेकी उनकी गति भी समान होती है। यहां आनेपर सभी जीव बड़े वेगके साथ तत्कालीनकी ओर दौड़ लगाते हैं, और अन्तमें उसे हस्तगत करके संसार तटके निकट पहुँच जाते हैं।

★ विवेक, वैराग्य, संयम और तितिक्षा द्वारा इन्द्रियों का दमन किए बिना वासना के बन्धन से मुक्ति संभव नहीं है।

★ अहं और मम से ही समस्त संसार बन्धन में पड़ा है इसका छोड़ना ही मोक्ष है।

३२. सहज व्यवस्था

१. अतृप्त कामना

यहां आकर मैं अपने इस प्रबन्धको समाप्त करता हूं, क्योंकि विकल्पोंका कोई अन्त नहीं, जितने निकालो उतने ही बढ़ते हैं। प्रत्येक अधिकारमें अनेकों अवान्तर विकल्प हो सकते हैं। यदि विस्तार करने लगूं तो प्रत्येक अधिकारके लिये एक-एक ग्रन्थकी रचना करनी पड़े। शास्त्र समुद्रका पार पाना कठिन है। इस सारे कथनपर से इतना सारांश ग्रहण कर लेना पर्याप्त है कि बाहरमें तथा भीतरमें सर्वत्र एक तात्त्विक व्यवस्था है, जिसमें मनुष्यके करनेके लिये कुछ भी नहीं है, तथापि अत्यन्त संकीर्ण होनेके कारण अहंकार सर्वत्र अपना ही कर्तृत्व देखता है। ज्ञानका आश्रय छोड़कर बहिर्करण तथा अन्तर्करणका आश्रय लेना उसका स्वभाव है, या यों कह लीजिये अनादिगत इस टेवके कारण ही व्यापक 'अहं' संकीर्ण होकर अहंकार बन गया है। करणोंके आधीन होनेके कारण यह यद्यपि स्वयं परतन्त्र है तदपि अपने व्यापक स्वरूपको न देख पानेके कारण कूपमण्डूक की भांति इस पारतन्त्र्यमें ही

स्वातन्त्र्यकी कल्पना किये बैठा है। अपने पारमार्थिक स्वातन्त्र्यका उसे भान ही नहीं है।

यद्यपि जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रमें अनेकों अवसर ऐसे आते हैं जब कि वह यदि चाहे तो अपने इस पारतन्त्र्यका प्रत्यक्ष कर सकता है, तदपि अपने संकीर्ण स्वभावके कारण हिरण्यकश्यपुकी भांति गरजता रहता है, और अपनी हारको जीत घोषित करता रहता है। इन्द्रियोंके माध्यमसे प्वायंट लगा-लगा कर समग्रको जान लेना चाहता है, हाथ पांवके माध्यमसे प्वायंट लगा-लगा कर समग्रको अपनी कामनाके अनुसार कर लेना चाहता है। परन्तु असम्भवको सम्भव बनानेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। इसलिये उसकी यह अतृप्त कामना न आजतक पूरी हुई है और न आगे कभी पूरी होनेवाली है।

इस कामनाके कारण वह विश्वके विधानको हिरण्यकश्यपुकी भांति अपने आधीन कर लेना चाहता है, परन्तु कल्पनाओंके जालमें उलझा रहनेके कारण उसे स्वयं यह सोचनेको अवकाश नहीं कि यह बात सम्भव है या असम्भव। स्वयं सोचने का तो प्रश्न नहीं, यदि कोई दूसरा भी उसे समझाने लगे तो गरजने लगता है, उसका उपकार माननेकी बजाय उससे लड़ने मरनेको तैयार हो जाता है। विश्वका विधान स्वतन्त्र है। न वह आजतक किसी के आधीन हुआ है और न होने वाला है। देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि भी जब उसे अपने आधीन नहीं कर सके, देवाधिदेव अर्हन्त तथा सिद्ध परमात्मा भी जब उसमें कुछ हेरफेर करने के लिये समर्थ नहीं हो सके तब अणुकी भांति क्षुद्र इस मानवीय अहंकारकी तो बात ही क्या। हे प्रभु! तू अपनी इस संकीर्णताको छोड़ और अपनी प्रभुताको पहचान। विश्व-व्यवस्था तेरे आधीन नहीं है, तू

ही वास्तवमें उसके आधीन है। तेरी यह अतृप्त कामना भी वास्तवमें उस विधानके अन्तर्गत है, अन्यथा तू जगत्का कीड़ा बनकर न रहता।

२. विफल कर्तृत्व

विश्व-व्यवस्थाको अपने आधीन बनाकर उसे बदल देनेका प्रयत्न करनेमें तेरा स्वातन्त्र्य नहीं है, प्रत्युत इस बातमें है कि तू उसे ठीक प्रकार समझकर हृदयसे स्वीकार करे, और अपनी जिस भूलके कारण तू उसके आधीन हो गया है, उस स्वामित्व कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भावसे विरत होकर उसका ज्ञाता द्रष्टा मात्र बन कर शान्त हो जाये। ज्ञात द्रष्टापना ही तेरा अथवा तेरे ज्ञानका स्वभाव है, वह ही तेरा कर्तव्य है और वह ही तेरा भोक्तव्य। अपने इस पारमार्थिक स्वरूपको भूल जानेके कारण ही तू जगत् का कर्ता हर्ता बना हुआ है। अरे प्रभु! यह तो सोच कि पूर्णता प्राप्त कर लेनेपर जब तू इसका कर्ता हर्ता नहीं रह सकता तो अपूर्णताकी स्थितिमें कैसे रह सकता है। अहन्त तथा सिद्धको तो तू अकर्ता कहता है और अपने को कर्ता। अपनी इस विषम कल्पनापर तनिक विचार कर। अहंकारकी संकीर्ण परिधि में स्थित रहते हुए तू इस रहस्यको नहीं समझ सकता। एक क्षणके लिये उसकी परिधिसे बाहर आ और अपने ज्ञाता द्रष्टा भाव का आश्रय लेकर सरल रूपसे विश्वकी इस सुन्दर व्यवस्थाका निरीक्षण कर।

भरतचक्री जब वृषभ गिरि पर अपना नाम लिखने लगे तो कोई भी स्थान रिक्त न देखकर निराश हो गये, परन्तु तुरन्त ही अहंकारने उन्हें सलाह दी कि दूसरेका नाम मिटा कर अपना नाम लिख दो। यद्यपि भरतचक्री स्वार्थवश उसके बहकावेमें आ गये, तदपि तुरन्त उनका यह विवेक भी जाग्रत हो गया कि जिस प्रकार दूसरेका नाम मिटाकर तूने अपना नाम लिखा है, उन्ही प्रकार

मुझसे पहले भी सब दूसरोंका नाम मिटा-मिटा कर अपना नाम लिखते रहे होंगे, और मेरे पश्चात् भी कोई मेरा नाम मिटा कर अपना नाम लिख देगा। नाम मिटते रहे हैं, परन्तु वृषभगिरि पर्वत वहीं है। पृथिवीको जीतने वाले सब चले गये हैं परन्तु पृथिवी वहीं है। तब यह रक्तपात किस लिये ?

क्या ही अच्छा हो कि तू भी इसी प्रकार विवेक चक्षुके द्वारा अपने कर्तृत्वकी पोलाहटको देख सके। 'वृषभ' नाम धर्मका है। 'धर्म' नाम स्वभावका है। 'स्वभाव' नाम विश्वकी सहज व्यवस्था का है। इस धर्मगिरिपर तू सदा से दूसरोंके कर्तृत्वको मिटा-मिटा कर अपने कर्तृत्वकी स्थापना करता आया है, परन्तु जिस प्रकार तू दूसरोंके कर्तृत्वका लोप करता रहा है उसी प्रकार तेरे भी कर्तृत्वका सदा लोप होता रहा है। जिस प्रकार पूर्वभवोंमें स्थापित तेरा कर्तृत्व आज कहीं नहीं है, उसी प्रकार आजवाला तेरा यह कर्तृत्व भी रहने वाला नहीं है। विश्व-व्यवस्थारूप यह धर्मगिरि ही सदासे अवस्थित है और सदा अवस्थित रहने वाला है। यह देखकर तथा समझकर तू कर्तृत्वसे विरत हो और ज्ञाता द्रष्टा बनकर विश्वकी इस अक्षुण्ण स्वाभाविक व्यवस्थाका तमाशा देख। तेरे जैसे अनन्तानन्त अहंकार युगपत् इसे बदल देनेके लिये जोर लगा रहे हैं, परन्तु यह न आजतक कभी बदली है और न बदलेगी।

यदि यहां तू यह कहे कि "अर्हन्त सिद्ध तो वीतरागी होनेके कारण कर्ता नहीं रहे, परन्तु मैं तो रागी हूं", तो राग ही कर्ता सिद्ध होता है तू नहीं। और राग क्योंकि अज्ञानस्वरूप होनेके कारण परमार्थतः मिथ्या है, इसलिये रागाधीन तेरा यह कर्तृत्व भी परमार्थतः मिथ्या है। यहां यदि तू यह कहे कि "व्यवहार भूमि पर तो मेरा कर्तृत्व सत्य है ही, तो यह मुझे स्वीकार है। अतः यदि

तुझे व्यवहार भूमिपर स्थित रहना ही इष्ट है तो तेरे कर्तृत्वके प्रति मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु यदि व्यवहार-भूमिको छोड़कर परमार्थ भूमि पर जाना इष्ट है तो तुझे अपना यह रागजन्य मिथ्या कर्तृत्व छोड़ना ही होगा। मैं व्यवहारकी संकीर्ण दृष्टिसे बात नहीं कर रहा हूँ, परन्तु परमार्थकी समग्र दृष्टिसे बात कर रहा हूँ जिसमें तेरी अपनी कोई सत्ता ही नहीं है, तब कर्ता अकर्ता की तो बात क्या ?

हे अहंकार ! तू अपनी इस पारमार्थिक असत्यता को समझ। विश्व तेरे आधीन नहीं हो सकता, तू ही विश्वके आधीन है। तू समग्रका स्वामी नहीं हो सकता, समग्र ही तेरा स्वामी है। तू समग्रमें कुछ भी हेर-फेर नहीं कर सकता, समग्र ही तुझमें हेर-फेर कर रहा है। तू समग्र को नहीं भोग सकता, समग्र ही तुझे भोग रहा है। विश्वकी इस अक्षुण्ण कार्य-कारण व्यवस्था को समझ, तू कृतकृत्य हो जायेगा। हे प्रभु ! तू अपनी प्रभुताको पहचान, कारणों का आश्रय छोड़कर ज्ञानका आश्रय ले, तू प्रभु बन जायेगा, तू विभु बन जायेगा, तू सर्वव्यापक बन जायेगा, तू सर्वगत बन जायेगा। जिस प्रकार किसी बड़े कारखानेमें मशीनें तथा उनके पुर्जे बिना किसी मनुष्यके स्वयं काम कर रहे हैं, उसी प्रकार इस विश्वकी सकल व्यवस्था स्वयं काम कर रही है। तेरे अहंकारको अथवा बुद्धिको इसमें कुछ भी हेर-फेर करनेके लिये अवकाश नहीं है। तेरा अज्ञान तथा मिथ्या कर्तृत्व भी वास्तवमें इस सहज व्यवस्थाके आधीन है, इससे पृथक् कुछ नहीं।

“मैं सब कुछ हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मेरे बिना एक तिनका भी नहीं हिल सकता”, ऐसे कर्तृत्वकी दृढ़ ग्रन्थि जो तेरे हृदयमें बैठी हुई है, उसकी घोषणा यदि तू, अहंकारकी संकीर्ण भूमिमें बैठकर न करे, प्रत्युत अपने विश्वव्यापी ज्ञानकी भूमिमें

बैठकर करे तो वह अवश्य सत्य हो जाये, क्योंकि उस समय तू समग्रमें प्वायंट लगा कर करने-धरनेके विकल्पोसे विरत होकर केवल उसका तमाशा देखे। तब तुझे सब कुछ सहज होता दिखाई दे। अहंकारकी भूमिमें बैठ कर इस प्रकारका दर्शन सम्भव नहीं।

हे प्रभु! मैं तुझे किसी प्रकारका कष्ट देना नहीं चाहता, न ही तेरी स्वतन्त्रता छोनकर तुझे पंगु बनाना चाहता हूँ। विश्वकी कार्य-कारण व्यवस्थाका तात्त्विक स्वरूप दर्शाकर मैं केवल तेरा विवेक चक्षु खोलना चाहता हूँ, जिससे कि तू अपनी भूलको पहचान सके। तब तुझे यह भान हो जायेगा कि अपने जिस संकीर्ण तथा मिथ्या कर्तृत्वको तू अपना पुरुषार्थ कहता है वह व्यवहार भूमिपर पुरुषार्थके नामसे प्रसिद्ध होते हुए भी परमार्थ भूमिपर अपुरुषार्थ है, और जिस पारमार्थिक ज्ञातृत्वको तू अकर्मण्यता कहता है वह ही वास्तवमें तेरा सच्चा पुरुषार्थ है जिसके हस्तगत हो जानेपर तू अणुसे महान बन जायेगा, बिन्दुसे सागर बन जायेगा, अपूर्णसे पूर्ण बन जायेगा, तेरा भव-भवका क्षोभ शान्त हो जायेगा, समता तथा शमताको हस्तगत करके तू सदाके लिये कृतकृत्य हो जायेगा। तब कुछ भी करना तेरे लिये शेष नहीं रह जायेगा।

३. तात्त्विक कर्म-व्यवस्था

पूर्ण 'अहं' का अहंकारके रूपमें संकीर्ण हो जाना, अथवा समग्रको छोड़कर एक-एक पर अंगुली टिकाना ही वह अज्ञान तथा अविद्या है जिसे कि अन्य दर्शनकार माया कहते हैं। सत्यको असत्य और असत्यको सत्य कर दिखाना उसका कार्य है। जिस प्रकार एक घड़ा ओंधा रखा जानेपर उसके ऊपर सभी घड़े ओंधे रखे जाते हैं, उसी प्रकार पूर्णसे अपूर्ण हो जानेपर उसकी सकल वृत्तियां अपूर्ण हो जाती हैं। अपूर्णताके द्वारा अपूर्णताकी प्राप्ति का सकल प्रयास विफल हो जाता है। विपरीत इसके भीतरमें विकल्पो

तथा कषायोंके एक मिथ्या जगत्का निर्माण हो जाता है, जिसके कारण व्यक्ति झूठ-मूठ कर्ता कर्म क्रियाकी अथवा कार्य-कारणकी शृंखलामें बँध जाता है। उदित हो-होकर डूबते रहनेवाले विकल्पोंके द्वारा भीतरमें मानसिक जन्म-मरण और उसके फल-स्वरूप बाहरमें शारीरिक जन्म-मरण करता रहता है। भीतर तथा बाहरका जन्म-मरण रूप यह संसरण ही 'संसार' शब्दका वाच्य है, जिससे मुक्ति पानेके लिये तू न जाने कबसे दिफल पुरुषार्थ करता चला आ रहा है।

कर्म-सिद्धान्तके माध्यमसे यहां विश्वकी उस तात्त्विक व्यवस्थाका चित्रण प्रस्तुत किया गया है, जिसमें न किसी की सिफारिश चलती है और न हस्तक्षेप। इसे यदि देख लें तो अहंकार अवश्य ढीला पड़ जाये। तब तू कर्तृत्व पक्षको छोड़कर भवनत्व पक्षका आश्रय ले। करता हुआ अथवा किया जाता हुआ देखनेकी बजाय सर्वत्र होता हुआ देख। यहां न कोई कर्ता है न करण, केवल भूत्वा-भवन है। हो-हो कर हो रहा है, कोई भी कुछ कर नहीं रहा है। जो करता है वह भोगता है, जो भोगता है वह करता है। जो करता नहीं वह भोगता भी नहीं, जो भोगता नहीं वह करता भी नहीं। ज्ञाता द्रष्टा भावके द्वारा जो समग्रको और समग्रकी इस सहज कार्य-कारण व्यवस्थाको जानता है वह केवल जानता ही है कुछ करता नहीं है, और जो अहंकारके संकीर्ण कर्तृत्व द्वारा कुछ करता है वह केवल करता ही है, कुछ जानता नहीं है। मन अथवा चित्त एक है, एक समयमें एक ही काम कर सकता है। जाननेके समय करनेका और करनेके समय जाननेका काम नहीं कर सकता। जो करता है वही कर्ता कर्म आदिकी शृंखलामें बँधता है, जो केवल जानता है वह नहीं।

जो खलु संसारत्थो जीवो, ततो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदिमुगदी ॥

जो जीव मानसिक तथा शारीरिक संसरणरूप पूर्वोक्त संसारमें स्थित है, उसको संस्कारवश स्वयं ही राग-द्वेष आदि परिणाम या भाव-कर्म होते हैं, जिनके द्वारा उसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ऐसा त्रिविध कर्म होना स्वाभाविक है। ये सकल कर्म क्योंकि संकल्प पूर्वक होते हैं इसलिये कृतक हैं, और फल-भोगकी आकांक्षासे युक्त होते हैं इसलिये सकाम हैं। सकाम होनेके कारण इनके प्रभावसे जीव न चाहते हुए भी नरकादि गतियोंमें भ्रमण करने लगता है। यह है कार्य-कारण भावकी शृंखलामें बद्ध विश्वकी वह तात्त्विक व्यवस्था जिसमें हेर-फेरकरनेके लिये इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र, जितेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है। 'विश्वमें जितने कुछ भी चेतन तथा अचेतन पदार्थ हैं वे सब इस व्यवस्थाके आधीन वर्तन कर रहे हैं' यह निश्चय करके जो कर्तृत्वसे उपरत होकर ज्ञातृत्वके क्षेत्रमें प्रवेश कर जाता है, वह केवल साक्षी भावसे इस विश्वका तमाशा देखता है, इसमें उलझता नहीं है। दूसरी ओर जो इस व्यवस्थाको लक्ष्यमें न लेकर पदार्थों को अपनी कल्पनाके अनुसार बदल देनेका प्रयत्न करता है वह अपने ज्ञातृत्वके पक्षको छोड़कर सदा कर्तृत्वकी चिन्तामें उलझा रहता है। पहला ज्ञाता बनकर मुक्त हो जाता है और दूसरा कर्ता बनकर अपने संसारकी वृद्धि करता है।

इस गाथामें आचार्यने एक ओर तो विश्वकी कार्य-कारण व्यवस्थाका चित्रण प्रस्तुत किया है, और दूसरी ओर कर्तृवाच्य (active voice) के स्थानपर कर्मवाच्य (passive voice) का प्रयोग करके यह भाव व्यक्त किया है कि यह व्यवस्था सहज तथा स्वाभाविक है, इसमें किसीके द्वारा कुछ हेर-फेर किया जाना सम्भव नहीं है। तू भी यदि इसी प्रकार कर्तृवाच्यकी बजाय कर्म-वाच्यमें बोलना सीख जाये, 'मैंने यह किया' ऐसा न बोल कर 'मेरे द्वारा यह हुआ' ऐसा बोले तौ तुझे यह प्रतीत होने लग जाये

कि किसी भी कामको मैं करता नहीं हूँ। वह होता स्वयं है, मैं केवल उसमें निमित्त होता हूँ।

‘मैंने किया’ इत्याकारक कर्तृवाच्यकी भाषामें अहंकार पक्षसे देखनेपर यद्यपि कर्तृत्व स्वतन्त्रता-प्रतिपादक है, तदपि तात्त्विक व्यवस्थाके पक्षसे यही परतन्त्रता-प्रतिपादक है, क्योंकि ‘मैंने किया’ इत्याकारक अहंकार ही ज्ञानको संकीर्ण करके बन्धनमें डालता है। ऐसे भावके द्वारा ही वह कर्म तथा कर्मफलकी शृंखलामें जकड़ जाता है। दूसरी ओर ‘मेरे द्वारा हुआ’ इत्याकारक कर्मवाच्यकी भाषा कर्तापनेकी स्थापना न करके केवल निमित्तपनेकी स्थापना करती है, इसलिये स्वतन्त्रता-प्रतिपादक है। न इसमें कर्तृत्वका अहंकार है और न तत्सम्बन्धी बन्धन।

विश्वकी जिस स्वाभाविक कार्य-कारण व्यवस्थाका परिचय इस गाथामें चित्रित किया गया है, उसे ही कुछ विशद रीतिसे समझानेका प्रयत्न इस छोटेसे प्रबन्धमें किया है। अध्यात्म प्रधान होनेके कारण यहां जिसे उपादानकी भाषामें कहा गया है उसे ही करणानुयोग निमित्त की भाषामें कहता है। यहां जिसे संक्षेपमें कहा गया है वहां उसे ही अत्यन्त विस्तारके साथ कहा गया है। जिस प्रकार थर्मामीटरके पारेको देखकर रोगीकी ज्वर-वेदनाका निश्चित अवधारण हो जाता है, इसी प्रकार जीवके परिणामोंको देखकर करणानुयोग-कथित द्रव्य-कर्मोंकी बन्ध उदय सत्त्व आदि अवस्थाओंका अवधारण हो जाता है। इसी प्रकार बन्ध उदय सत्त्व आदि अवस्थाओंको देखकर जीवके संस्कारोंका और तत्फल-स्वरूप होनेवाले उसके परिणामोंका तथा सुख-दुःख आदिका निश्चित अवधारण भी हो जाता है।

इस प्रकार यद्यपि अध्यात्मानुयोग और करणानुयोगका प्रतिपाद्य एक ही है, तदपि करणानुयोगमें क्योंकि उसके कर्ता-कर्म

वाले पक्षका तथा पुण्य-पाप वाले पक्षका विस्तार किया गया है इसलिये साधारण दृष्टिसे देखनेपर इन दोनोंमें भेद देखने लग जाता है। इन दोनों पक्षोंका जो अत्यन्त स्थूल तथा संक्षिप्त विवेचन अध्यात्म शास्त्रोंमें निबद्ध है उसका यहां इतना सूक्ष्म विवेचन किया गया है कि साधारण बुद्धि उसका अध्ययन करते हुए घबरा जाती है। तथापि मेरा स्वाध्याय-प्रेमियोंसे यह अनुरोध है कि वे इस अनुयोगको निष्प्रयोजन न समझकर प्रयोजनभूत समझें। अपने आभ्यन्तर विधानका सुनिश्चित तथा असन्दिग्ध परिचय प्राप्त करनेके लिये और साथ-साथ अपने परिणामोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म उतार-चढ़ावको पकड़नेके लिये इस अनुयोगका अध्ययन अवश्य करें। छोटी-छोटी पुस्तकोंमें उसकी भूमिका मात्र ही प्रस्तुत की जा सकती है, विषय-विस्तार नहीं। पहले 'कर्म-सिद्धान्त' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई और अब यह पुस्तक प्रकाशमें आ रही है। दोनों एक दूसरेकी पूरक हैं, परन्तु दोनों मिलकर भी करणानुयोगके विस्तृत विषयकी भूमिका मात्र ही हैं। ●

ॐशम्

- ★ आहार शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है इसी कारण आत्मकल्याण के इच्छुक को आहारशुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिये
- ★ अन्तःकरण की शुद्धि से भावना दृढ़ होती है और भावना की स्थिरता से हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं ।

- ★ मन ही बन्धन है और मन ही मोक्ष । वासना युक्त मन बन्धन है और वासना मुक्त मन मोक्ष ।
- ★ शास्त्रज्ञानपूर्वक विवेक जागृत करे और विवेक पूर्वक इन्द्रियनिग्रह । इतना किया जाने पर मनोनिरोध संभव है अन्यथा नहीं ।

श्री जिनेन्द्र वर्णी साहित्य

१.	शान्ति पथ प्रदर्शन	७०-००
२.	नय दर्पण	६०-००
३.	समण सुत्तम्	२१-००
४.	पदार्थ विज्ञान	१०-०० <u>ग्रन्थमाला</u>
५.	कर्म रहस्य	१६-००
६.	कर्म सिद्धान्त	१६-००
७.	सत्य दर्शन	२०-००
८.	कुन्द कुन्द दर्शन	४-००
९.	सर्व धर्म समभाव	१-००
१०.	प्रभुवाणी	२-००
११.	अध्यात्म लेखमाला	१०-००
१२.	जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त-एक अध्ययन (कर्म बन्धन और मुक्ति प्रक्रिया का विवेचन) लेखिका : डॉ० कुमारी मनोरमा जैन	४८-००
१३.	Science Towards Monism	१०-००
१४.	Life the God Hood (By Sh. Jai Bhagwan Advocate)	६-०० २०-००

कार्यालय: श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला, ५८/४ जैन स्ट्रीट, पानीपत १३११०३
 नोट: श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला से प्रकाशित उपरोक्त पुस्तकों पर ५०० रु० से अधिक के
 आर्डर पर २५% छूट/पैकिंग व डाकखर्च अतिरिक्त।

१५.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १ से ५) पंचम भाग प्रति	भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इन्स्टीटयूशनल एरिया, लोधी रोड, दिल्ली-३
१६.	वर्णी दर्शन	<u>पानीपत</u> शान्ति निकेतन, ईस्टी ५४-००
१७.	उपासना (पूजाएँ)	उदासीन आश्रम, इन्दौर
१८.	महायात्रा २०/-	सर्वसेवासंघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी
१९.	जैन तीर्थ क्षेत्र मानचित्र	पन्ना लाल जैन आर्चिटेक्ट, ४९८३, शिवनगर, करोल बाग, दिल्ली
२०.	श्रद्धाबिन्दु	अप्रकाशित

भोपाल में दिए हुये प्रवचनों के कैसेट भी उपलब्ध है।